॥ श्रीहरिः ॥

346▲

सुखी बनो

गीताप्रेस गोरखपुर
GITA PRESS, GORAKHPUR

हनुमानप्रसाद पोद्दार

॥ श्रीहरिः ॥

346

सुखी बनो

(लोक-व्यवहार एवं पारमार्थिक साधनाके सम्बन्धमें जिज्ञासुओंको लिखे गये पत्रोंका संग्रह)

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

लेखक—

हनुमानप्रसाद पोद्दार

॥ श्रीहरिः ॥

प्रकाशकीय निवेदन

'सुखी बनो'—पुस्तक परमश्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके कुछ पत्रोंका संग्रह है। इनमेंसे कुछ पत्र 'कामके पत्र' शीर्षकसे समय-समयपर 'कल्याण'में प्रकाशित हुए हैं; कुछ उनके व्यक्तिगत पत्र भी जो अबतक कहीं प्रकाशित नहीं हुए थे, इसमें सम्मिलित कर लिये गये हैं।

श्रीभाईजीका जीवन वैविध्यपूर्ण था। वे आदर्श पिता थे, आदर्श पुत्र थे, आदर्श पति थे, आदर्श मित्र थे, आदर्श बन्धु थे, आदर्श सेवक थे, आदर्श स्वामी थे, आदर्श आत्मीय थे, आदर्श स्नेही थे, आदर्श सुहृद् थे, आदर्श शिष्य थे, आदर्श गुरु थे; आदर्श लेखक थे, आदर्श सम्पादक थे, आदर्श साधक थे, आदर्श सिद्ध थे, आदर्श प्रेमी थे, आदर्श कर्मयोगी थे, आदर्श ज्ञानी थे। इस प्रकार उन्हें लौकिक एवं पारलौकिक सभी विषयोंका सम्यक्-रूपसे ज्ञान था, अनुभव था और यही हेतु है कि वे व्यवहार और परमार्थकी जटिल-से-जटिल समस्याओंका समाधान बड़े ही सुन्दर और मान्यरूपमें कर पाते थे।

व्यक्तिके जीवनका प्रभाव सर्वोपरि होता है और वह अमोघ होता है। श्रीभाईजी अध्यात्म-साधनाकी उस परमोच्च स्थितिमें पहुँच गये थे, जहाँ पहुँचे हुए व्यक्तिके जीवन, अस्तित्व, उसके श्वास-प्रश्वास, उसके दर्शन, स्पर्श एवं सम्भाषण—यहाँतक कि उसके शरीरसे स्पर्श की हुई वायुसे ही जगत्का, परमार्थके पथपर बढ़ते हुए जिज्ञासुओं एवं साधकोंका मङ्गल होता है। हमारा विश्वास है कि जो व्यक्ति इन पत्रोंको मननपूर्वक पढ़ेंगे, इनमें कही हुई बातोंको अपने जीवनमें उतारनेका प्रयत्न करेंगे, उनको निश्चय ही इस जीवनमें तथा जीवनके उस पार वास्तविक सुख और शान्तिकी उपलब्धि होगी।

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

।।श्रीहरिः।।

सुखी बनो

सबमें एक ईश्वर या आत्माको देखनेपर ही दुःखनाश

प्रिय महोदय! सादर हरिस्मरण। कृपापत्र मिला। आपने लिखा, सो ठीक है। पर वास्तवमें सारे दुःख तथा बन्धनका कारण है—शरीर और नाममें 'अहंता' तथा प्राणिपदार्थोंमें 'ममता'। शरीर तथा नाम दोनों ही 'मैं' नहीं हैं, पर इनमें मिथ्या 'मैं' पन इतना गाढ़ा हो गया है कि उसको लेकर यह मेरा देश, यह मेरी जाति, यह मेरा महजब, यह मेरा मत, यह मेरी पार्टी, यह मेरा घर, यह मेरा धन, यह मेरा अधिकार आदिके रूपमें इतने मिथ्या ममताके बंधन हो गये हैं और उनमें इतना अधिक 'राग' हो गया है कि रात-दिन उन्हींकी चिन्तामें ग्रस्त रहना पड़ता है। इस मिथ्या महत्त्वको लेकर हमारा 'स्व' स्वाभाविक ही संकुचित होते-होते केवल एक व्यक्तिमें, शरीर तथा नाममें आकर केन्द्रित हो गया है। यही कारण है कि आज हम जीव-जगत्, विश्व, देश और जनताके हितको ही नहीं, अपने परिवारके अन्यान्य सदस्योंके हितको भी भूलकर केवल व्यक्तिगत—अपने 'शरीर तथा नाम' का ही हित-साधन करनेमें लगे हैं। यह निश्चित है कि जितना ही 'स्व' सीमित होगा, उतना ही 'स्वार्थ' निम्न स्तरका होगा। सीमित 'स्व' वाला व्यक्ति दूसरोंका हित न देखकर ही नहीं, उनका अहित करके भी अपना हित-साधन करना चाहेगा और यों जब सभी लोग या अधिकांश लोग दूसरोंका अहित

करके अपना हित करनेमें लगेंगे, तब किसीका भी हित न होकर सभीका अहित होगा; कलह, संघर्ष, उपद्रव, क्रोध, वैर, हिंसा स्वाभाविक कार्य हो जायँगे। आज सर्वत्र यही हो रहा है। इसीसे आज देश-देशमें, धर्म-धर्ममें, प्रान्त-प्रान्तमें, जाति-जातिमें, पार्टी-पार्टीमें, पड़ोसी-पड़ोसीमें, घर-घरमें और व्यक्ति-व्यक्तिमें लड़ाई है तथा मानवता मरी जा रही है। यह पाप उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। पापका फल अशान्ति तथा दुःख तो निश्चित होगा ही।

अतएव इससे यदि बचना है तो उसका एक ही उपाय है—'स्व' को अत्यन्त विस्तृत कर देना। एक ही आत्माको सबमें तथा सबको एक ही आत्मामें देखना—

'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।'

(गीता ६। २९)

यह होनेपर सहज ही सबके हितमें अपना हित और सबके अहितमें अपना अहित दिखायी देगा। वर्ग, वर्ण, कार्य अलग-अलग रहेंगे। जिस प्रकार एक ही शरीरमें सिर, पैर, आँख, कान आदि अङ्गोंके विभिन्न नाम-रूप हैं तथा सबके कार्य अलग-अलग हैं, पर सभी एक ही शरीरके विभिन्न अङ्ग हैं—सभी 'मैं हूँ' ऐसी हमारी धारणा है, इसलिये सभी अङ्ग सहज ही सब अङ्गोंकी पुष्टि तथा सहायता करते हैं। सबके हितमें ही सब अपना हित समझते हैं, कोई किसीको दुःख पहुँचाना या किसीका अहित करना नहीं चाहता, वरं सभी सबको दुःखसे बचाते रहते हैं। इसी प्रकार जब यह निश्चय हो जायगा कि एक ही भगवान् या एक ही आत्मा सबमें है और सब उसीमें है तो स्वाभाविक ही सबके द्वारा सबका हित होगा। फिर द्वेष,

****

क्रोध, कलह, वैर, हिंसाको कहीं स्थान ही नहीं रह जायगा। सब सबका स्वाभाविक ही सुख-हित-साधन करेंगे।

'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत।'

× × ×

'अब हौं कासों बैर करौं।
कहत पुकारत प्रभु निज मुख सों घट-घट हौं बिहरों॥'

× × ×

'सबमें मैं ही रम रहा, सब ही मेरे अंग।
सब ही 'मैं' फिर, कौन-सा करूँ अंग मैं भंग?॥
किसी अंग पर लगेगी चोट बड़ी या अल्प।
निश्चय ही वह लगेगी मुझको, बिना बिकल्प॥
तब फिर कैसे करूँ मैं किस परका अपकार?।
कैसे किसको दुःख दूँ, कैसे करूँ प्रहार?॥
नाम-रूप हैं देहके कल्पित असत् विभिन्न।
सबमें अन्तर्निहित हैं ईश्वर एक अभिन्न॥'

इस परम सत्यको भूलकर ही आज हम सब परस्पर एक-दूसरेकी मानस-शारीरिक हिंसा करते हुए वास्तवमें अपनी ही हिंसा कर रहे हैं। स्वार्थ-साधनके भ्रममें अपने ही स्वार्थका नाश कर रहे हैं। भगवान् हम सबको सद्बुद्धि दें। शेष भगवत्कृपा।

——::×::——

प्रकृतिकी लीलाके द्रष्टा बनिये

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। उत्तरमें निवेदन है कि आत्मा— पुरुष सुख-दुःख, जन्म-मरणादि द्वन्द्वोंसे रहित नित्य शुद्ध-बुद्ध है। परंतु 'प्रकृतिस्थ' होनेके कारण प्रकृतिमें होनेवाले परिवर्तन और विकार पुरुषमें दिखायी देते हैं और वह भी ऐसा ही अनुभव करके सुख-दुःख भोगता तथा जन्म-मरण एवं अच्छी-बुरी योनियोंके चक्रमें पड़ा रहता है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

(गीता १३। २१)

'प्रकृतिमें स्थित पुरुष ही प्रकृतिसे उत्पन्न त्रिगुणात्मक पदार्थोंको भोगता है और इन गुणोंका सङ्ग ही उसके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेमें कारण है।'

प्रकृतिकी चञ्चलतामयी लीलामें जब पुरुष स्वयं जाकर मिल जाता है, तभी यह सब होता है। इससे छूटनेका उपाय है—वह 'स्व-स्थ' (आत्मस्थ) होकर प्रकृतिकी लीलाका द्रष्टा बन जाय और प्रकृतिके समस्त कार्योंको दृश्य बनाकर देखने लगे। जहाँ कर्त्ता-भोक्ता न रहकर द्रष्टा बना कि चटुला प्रकृति-नटीका ताण्डव नृत्य अपने-आप बंद हो जायगा। द्रष्टाके आसनपर विराजमान आत्मस्थ अप्रलुब्ध भावसे देखनेवाले पुरुषके सामने प्रकृति दृश्य बनकर लीला नहीं कर सकती; उसकी लीला बंद हो जाती है। फिर प्रकृतिके द्वन्द्वोंका द्रष्टा पुरुषपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता,

वह प्रकृतिके गुणोंसे अतीत होकर समताका अनुभव करता है। उसीके लिये कहा है—

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥

(गीता १४।२३—२५)

"तटस्थ उदासीन द्रष्टाकी भाँति स्थित वह पुरुष प्रकृतिके गुणोंके द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता। गुण ही गुणोंमें बर्त रहे हैं—यों समझता हुआ वह परमात्मामें एक रूपसे स्थित है, उस स्थितिसे कभी चलायमान नहीं होता। वह स्व-स्थ (स्व—आत्मामें स्थित) दुःख-सुखको, मिट्टी-पत्थर-स्वर्णको, प्रिय-अप्रियको और अपनी निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला धीर पुरुष मान-अपमान, मित्र-शत्रुको समभावसे देखता है। ऐसा समस्त आरम्भोंका त्यागी—किसी भी आरम्भमें कर्तापनके अभिमानसे रहित हुआ पुरुष 'गुणातीत' कहलाता है।"

तदनन्तर जब प्रकृतिकी लीलाका 'दृश्य' नहीं रहता, तब वह द्रष्टा भी नहीं रहता। वह नित्य अपने सच्चिदानन्दस्वरूपमें स्थित रहता है। यही जीवन्मुक्तावस्था है। शेष भगवत्कृपा।

——::×::——

भूलके लिये पश्चात्ताप तथा पुनः भूल न करनेकी प्रतिज्ञासे भूल मिटती है

प्रिय भाई ! सप्रेम हरिस्मरण। मनुष्यके जीवनमें दुर्बलताके क्षण आते ही हैं, काम-क्रोध-लोभादिके आवेशमें, कुसङ्गके कारण अथवा पूर्वके बुरे संस्कारोंके उदय हो जानेसे उससे भूल हो जाती है; आचरणमें दोष आ जाता है। पर साधक पुरुष तुरंत सावधान हो जाता है; वह अपनेको उस पतनके प्रवाहमें बहा नहीं देता। भगवत्कृपाका सहारा लेकर तुरंत उछलकर बाहर निकल आता है। यही विषयी और साधकका पार्थक्य है। इसके लिये दृढ़ निश्चय, अनिवार्य मनोबल, सत्सङ्ग और भगवत्कृपाके आश्रयकी आवश्यकता है।

वास्तविक साधकको अपनी भूलपर—अपने पतनपर पश्चात्ताप होगा ही। वह पुनः वैसी भूल न करनेके लिये भगवान्से सहायता चाहेगा और अपने मनोबलको और भी मजबूत बनायेगा। कभी भी अपनी भूलको वह न सहन करेगा, न असावधान और लापरवाह रहेगा। साधकका यही स्वरूप है। वह अपनी भूलपर लज्जित होता— रोता है और भविष्यमें वैसी भूल न करनेकी प्रतिज्ञा करता है।

जो लोग भूल— दोषको सह लेते हैं, उसके लिये पश्चात्ताप नहीं करते, वरं असावधान रहते हैं, उनमें दोष तथा पतनके कारण

बढ़ते रहते हैं और साथ ही भूल या पतनके प्रसङ्ग भी। ऐसा मनुष्य सत्सङ्ग प्राप्त होनेपर सुधर सकता है।

जो मनुष्य पतनको उत्थान मानता है, भूल करके उसका अभिमान करता है, पाप करके अपनेको बुद्धिमान् तथा गौरवान्वित मानता है, उसके सुधारकी आशा बहुत ही कम है। जान-बूझकर पापको पुण्य मानकर उसे आश्रय देना एक बड़ा पाप है। इससे नये-नये पापोंका उदय होता है।

तुमसे भूल हुई, इसमें कोई आश्चर्य नहीं। भूल प्रायः सभीसे होती है। पर भगवान्‌की तुमपर बड़ी कृपा है, जो तुम्हें वह अपनी भूल— बड़े अपराधके रूपमें दिखायी देती है; तुम उसके लिये पछता रहे हो और भविष्यमें भूल न हो, इसके लिये भगवान्‌से करुण प्रार्थना कर रहे हो। तुम्हारे इस आचरणसे भगवान्‌की कृपा तुम्हें बल देगी और तुम भविष्यमें भूलों—अपराधोंसे बच सकोगे, ऐसी आशा है। भगवत्कृपाके बलपर मनमें यह दृढ़ निश्चय करो कि अबसे आगे कभी ऐसी भूल मुझसे नहीं होगी—नहीं होगी। शेष भगवत्कृपा।

——::×::——

दो प्रश्नोंका उत्तर

प्रिय महोदय! आपका कृपापत्र मिला। आपके दोनों प्रश्नोंके उत्तर निम्नलिखित हैं—

(क)

मनुष्य-जीवन जीवको दिया ही जाता है—जन्म-मृत्युके बन्धनसे मुक्त होकर परमात्माकी प्राप्ति, स्व-स्वरूपमें स्थिति, मोक्ष, भगवत्साक्षात्कार या भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके लिये। नाम कुछ भी हो, बात एक ही है— इस माया-प्रपञ्चसे छूटकर भगवान्‌में स्थित हो जाना।

जिस समय अधिक मनुष्य इस लक्ष्यपर चलनेवाले होते हैं, उसका नाम है—'सत्ययुग' और जब बिरले ही लोग इस लक्ष्यपर चलते हैं, शेष सब कामोपभोग-परायण होकर अनवरत सांसारिक भोगोंके अर्जन तथा भोगके प्रयासमें लगे रहते हैं, उस समयका नाम है— 'कलियुग'।

यही सत्ययुग और कलियुगका भेद है। इस कलियुगमें भी जो मानव-जीवनके लक्ष्यपर सुदृढ़ रहकर उसीकी ओर बढ़ते रहते हैं, वे कलियुगमें सत्ययुगी हैं; ऐसे सत्ययुगी मनुष्योंका ही सङ्ग करना और इन्हींके उपदेश तथा आचरणके अनुसार जीवन बनाना चाहिये। इससे वास्तविक विवेक होगा; वैराग्यसे शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा और समाधान—यह षट्-सम्पत्ति प्राप्त होगी; यह अनिवार्य है। षट्-सम्पत्ति प्राप्त न हुई तो मानना चाहिये

कि वैराग्य हुआ ही नहीं और वैराग्यका उदयन हुआ तो विवेक आया ही नहीं। षट्-सम्पत्ति आते ही मोक्षकी इच्छा जाग उठती है। तब एकमात्र मोक्षके लिये ही साधन होता है और उसका फल तो स्व-स्वरूपमें स्थिति, ब्रह्म या परमात्माकी प्राप्ति है ही।

(ख)

हमारी इस पृथ्वीकी मानव-जाति अध्यात्मवादके अभाव, ईश्वरकी अमान्यता, कर्मफलमें अविश्वास, सीमित स्वार्थ, विपरीतदर्शिनी तामसी बुद्धि, भय, संदेह, मिथ्या अभिमान और विशुद्ध भौतिकता या भोगवाद, अनात्मवादी भौतिक आसुरी विज्ञान आदिके वशमें होनेके कारण परमात्मा, आत्मा, आत्मसाक्षात्कार ही जीवनका लक्ष्य, कर्मफल-भोगकी अनिवार्यता, सर्वभूतहित, सर्वत्र सुख-शान्तिके प्रसार, सबके आतङ्करहित निर्भीक जीवन और सबकी सेवा करके सबका हित करनेकी भावनाको भूलकर धराके बड़े-बड़े राष्ट्र दूसरोंके आक्रमणसे अपनी सुरक्षा अथवा दूसरोंपर आक्रमण करके उनपर विजय प्राप्त करने तथा उनका सर्वस्व अपहरण करनेके लिये दिन-रात सन्देह, भयत्रास, काम-क्रोध-लोभ तथा अभिमान-मद-दर्पसे भरे अपनी बुद्धि, विद्या, शक्ति, विशाल अर्थराशि, समय, विज्ञान— सबके द्वारा घोर राक्षसी विनाशके आयोजनमें लगे हैं। नीचे दिये हुए आँकड़ोंसे इसका अनुमान हो सकेगा। पिछले दिनों 'मुंबई समाचार' में छपा था—

'दुनिया' में ७५ करोड़के लगभग फौजी राइफलें और पिस्तौलें फैली हुई हैं। प्रत्येक जवान मजबूत मानवके पीछे एक समझनी चाहिये। इसके अतिरिक्त गोलियों तथा दूसरे विस्फोटक

पदार्थोंका हजारों अरब जितने 'राउण्ड' करोड़ोंकी संख्यामें मशीनगन, मोर्टार, टैंक नष्ट करनेवाले शस्त्र, तोप आदि, लाखके लगभग युद्ध-विमान और हजारोंकी संख्यामें फौजी जलयानोंमें काममें आनेवाले शस्त्र संगृहीत हैं। दुनियाके देशोंमें चार महान् शक्तियाँ (उत्तरोत्तर बढ़ती हुई) शस्त्र-सज्जाकी माँगको पूरा करनेका काम कर रही हैं। अमेरिकाने १९४५ के बाद ३६००० करोड़ (रुपये) के मूल्यके शस्त्रोंका व्यापार किया है। ब्रिटेन और फ्रांसने अनुक्रमसे रु० ४५०० करोड़ और २७०७ करोड़के शस्त्र बेचे हैं और रूसमें रु० ६२०० करोड़का इन शस्त्रोंका व्यापार हुआ है। दूसरे विश्वयुद्धमें सेनाका जितना संख्याबल था, वर्तमानमें उससे दूना हो गया है।'

सम्मेलनों और वक्तव्योंमें विश्वशान्ति, विश्वप्रेमकी बातें कही जाती हैं और आचरणमें प्रत्यक्ष उसका विरोधी कार्य किया जा रहा है। इस अवस्थामें, जबतक लोगोंका हृदय-परिवर्तन न हो, जबतक 'स्व' की सीमाका विस्तार न हो, जबतक वास्तवमें सर्वहितमें अपना हित न समझा जाय, तबतक यह तामसप्रवाह रुकनेवाला नहीं है। इसीमें हित दिखायी देता है— यही कर्तव्य प्रतीत होता है। तमसाच्छन्न आसुरी बुद्धिका स्वभाव ही ऐसा है। इसका अवश्यम्भावी फल है— अधःपतन। भगवान् गीतामें कहते हैं—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥

(१८। ३२)

जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥

(१४ । १८)

'तमोगुणसे आवृत बुद्धि अधर्मको धर्म मानती है और सभी बातोंमें विपरीत ही निश्चय करती है। हे अर्जुन ! वह तामसी बुद्धि है।'

और 'इस जघन्यगुणवृत्तिमें स्थित तामस लोग नीची गतिको प्राप्त होते हैं।' शेष भगवत्कृपा।*

——::×::——

---

* यह पत्र नवम्बर १९६९ के 'कल्याण' में प्रकाशित हुआ था।

अपने कर्तव्यका पालन कीजिये

प्रिय बहन ! सस्नेह हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपने अपने पिताके व्यवहार-बर्तावके सम्बन्धमें तथा मातासे भी प्यार न मिलनेकी बात लिखी, सो वस्तुतः बड़े दुःखकी बात है। इससे आपके मनमें घोर संताप होना स्वाभाविक ही है। पिता-माताको अपनी संतानके साथ ऐसा बर्ताव नहीं करना चाहिये। पर आप अपने कर्तव्य-पालनमें लगी हैं, यह बड़े संतोषका विषय है। जन्मसे लेकर अबतक—कभी-न-कभी चाहे बहुत लड़कपनमें ही, माता-पिताने आपके पालन-पोषण तथा पढ़ाने-लिखानेमें कुछ तो समय—मन लगाया ही होगा। आप उनके दोषोंको न देखकर उनके उन छोटे-मोटे उपकारोंको स्मरण कीजिये और भगवान्‌से प्रार्थना कीजिये कि लोक-परलोकमें उनको सद्‌बुद्धि दें और उनके अपराधोंको क्षमा करें।

मेरी समझसे विवाह करा लेना परम आवश्यक है। वह धर्म तो है ही—उससे जीवनमें एक संयमका अवसर मिलता है। अर्थकी कमीसे विवाह होनेमें कठिनता अवश्य है, पर पता लगानेपर ऐसे मध्यम स्थितिके कमाने-खानेवाले पुरुष मिल सकते हैं, जो अर्थ न चाहकर सद्‌गुणवती गृहिणी चाहते हों। आपके विवाहमें अड़चन न आती हो, आपका पहले विवाह होनेपर छोटी

बहनोंके विवाहमें बाधा आती हो तो पहले उनका विवाह किया जा सकता है।

घरकी परिस्थितिके अनुसार नौकरी करना आवश्यक हो तो आपद्धर्म मानकर नौकरी करनी चाहिये, पर वह ऐसी न हो, जिसमें नैतिक पतनकी सम्भावना हो।

दो बातोंको भूल जाना और दोको याद रखना चाहिये— 'अपनेद्वारा किसीका किया हुआ उपकार भूल जाय, दूसरेके द्वारा की हुई अपनी हानिको भूल जाय।' 'अपनेद्वारा किसीको कभी हानि पहुँचायी गयी हो, उसे याद रखे, दूसरेके द्वारा कभी अपनी भलाई हुई हो, उसे याद रखे।' शेष भगवत्कृपा।

——::×::——

शान्तिके लिये कर्तव्य

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। जहाँतक बने, छोटे भाईके साथ सद्व्यवहार, प्रेमका बर्ताव कीजिये। उसके दोष न बताकर उसके गुणोंको ढूँढ़िये— (गुण भी अवश्य होंगे ही) और उसकी तारीफ कीजिये। वह नाराज भी हो तो उसको बार-बार स्नेह दीजिये। अपनी भूल स्वीकार कीजिये। धैर्य रखिये। भगवान्‌से उसको तथा अपनेको सद्बुद्धि प्रदान करनेके लिये प्रार्थना कीजिये।

दफ्तरमें भगवान्‌के सामने सदा सच्चे बने रहिये। काम जैसे लगनसे करते हैं, करते रहिये; अन्तमें सत्यकी ही जय होगी। खुशामद तो नहीं, पर यथासाध्य अपने उच्चाधिकारीसे मेल बढ़ाइये तथा भगवान्‌से विश्वासपूर्वक प्रार्थना करते रहिये। प्रार्थनामें अमोघ शक्ति है। शेष भगवत्कृपा।

——::×::——

कमजोरियाँ और बुराइयाँ दूर हो सकती हैं

प्रिय भाई ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपको अपनी कमजोरियाँ और बुराइयाँ दीखती हैं—यह आपका सद्‌गुण है। कमजोरियाँ और बुराइयाँ आत्माके धर्म नहीं हैं, ये आगन्तुक दोष हैं और भगवत्कृपाका आश्रय लेकर इन्हें दूर करनेका दृढ़ निश्चयके साथ प्रयास किया जाय तो ये अवश्य ही दूर हो सकती हैं। आप इसके लिये प्रयास कीजिये। यहाँके 'साधक-संघ' की नियमावली आपको भेजी जा रही है; उसके अनुसार नियमोंका पालन करना आरम्भ कर दीजिये तथा प्रतिदिन देखते रहिये— दोषोंमें कमी और सद्‌गुणोंमें वृद्धि हो रही है या नहीं। यहाँ रिपोर्ट भेजा कीजिये। निराश न होइये। भगवच्छरणागतिसे सारे पाप-ताप दूर हो जाते हैं।

लड़कीकी मृत्युके सम्बन्धमें आपने लिखा, सो आपको सेवा न करनेका पश्चात्ताप है; यह तो बहुत ठीक है। सेवा करनी ही चाहिये; पर आप उसकी मृत्युको बचा नहीं सकते थे। अतएव उसके लिये शोक-विषाद छोड़कर भविष्यके लिये सावधानीके साथ कर्तव्य-पालनका निश्चय कीजिये—

'हारिये न हिम्मत बिसारिये न हरि नाम।'

शेष भगवत्कृपा।

——::×::——

कुछ आवश्यक परामर्श

प्रिय बहन ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपके मानसिक संतापके लिये मेरे मनमें सहानुभूति है, पर इस संतापका नाश भगवत्कृपाका अवलम्बन लेकर उसके बलसे आप ही कर सकेंगी। लम्बे पत्रका संक्षेपमें उत्तर नीचे लिखा जाता है—

(१) क्रोध अवश्य ही बहुत बुरी चीज है। मनकी प्रतिकूलतामें इसका उदय होता है और जहाँ प्रतिकूलता सहनेको मनुष्य अत्यन्त विवश हो जाता है, वहाँ वह और भी ज्यादा आता है। प्रत्येक प्रतिकूलताको भगवान्‌का मङ्गल-विधान मानकर संतोष करनेका अभ्यास कीजिये। क्रोध आनेपर चुप रहिये या एक सौ आठ बार भगवान्‌का नाम लेनेका नियम ले लीजिये। भगवान्‌से प्रार्थना कीजिये। क्रोधका वेग कम हो जायगा।

(२) भगवान्‌को मन-ही-मन सद्‌गुरु मान लीजिये और मन-ही-मन उनको प्रणामकर तथा उनसे पूछकर काम किया कीजिये।

(३) विवाह हो जाय तो बहुत अच्छा है। हो सके तो आप—

हे गौरि शंकरार्धाङ्गि यथा त्वं शंकरप्रिया।
तथा मां कुरु कल्याणि कान्तकान्तां सुदुर्लभाम्॥

'इस मन्त्रकी एक मालाका जप नित्य कीजिये और पार्वती मातासे प्रार्थना करती रहिये कि वे आपके लिये सुयोग्य वर शीघ्र प्रदान करें।

(४) आत्महत्याकी बात कभी मनमें भी मत लाइये; यह महापाप है। आत्महत्यामें आत्मा यानी आपकी मृत्यु नहीं होती, इस शरीरसे सम्बन्ध छूटता है। पर आत्महत्या-जनित पाप आपके साथ जाता है और उसका बहुत ही बुरा—अत्यन्त कष्टदायक फल आपको बाध्य होकर भोगना पड़ता है। अतएव आत्महत्याका कभी विचार भी मत कीजिये।

(५) आपके जानेसे किसीको सुख-दुःख नहीं होगा। सुख-दुःख तो अनुकूलता-प्रतिकूलताकी अनुभूतिमें होता है।

(६) आप श्रीमद्भागवत, पुरुषोत्तमसहस्रनाम, विष्णु-सहस्रनाम, नारायणकवच आदिका पाठ रोज करती हैं तथा **'कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः'**—गीताके मन्त्रकी एक माला तथा **'श्रीकृष्णः शरणं मम'** की पाँच मालाका जप करती हैं, सो बहुत अच्छी बात है; अवश्य करती रहिये। ये व्यर्थ नहीं जा रहे हैं, इनका फल हो रहा है, जो अभी आपको दीखता नहीं। विश्वास, श्रद्धा तथा प्रेमके साथ करेंगी तो फल बहुत उच्च स्तरका तथा शीघ्र होगा।

(७) अपनेको भगवान् श्रीकृष्णके अनन्य शरण करके उन्हींको एकमात्र अपना आश्रय मानिये। उनकी कृपासे सारे विघ्नोंका नाश, समस्त कल्याणकी प्राप्ति अपने-आप हो जायगी। आप निराश न होकर भगवत्कृपापर विश्वास करके भगवान्‌के शरण हो जाइये। शेष भगवत्कृपा।

——::×::——

प्रेम तथा नम्रतासे फिर समझाइये

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। पत्र मिला। आप ईश्वरविश्वासी, सात्त्विक, संतोषी तथा संकोची वृत्तिके पुरुष हैं, सो ये तो आपके गुण हैं। आपने अपने धनसे मकान बनवाया था और उसमें बड़े भाई एवं उनके परिवारको कुछ समयके लिये रखा था, पर वे अब जा नहीं रहे हैं, कहनेपर भी ध्यान नहीं देते—यह वास्तवमें उनकी ज्यादती है। उन्हें नम्रतासे तथा प्रेमसे फिर समझाइये। आपसे न समझें तो पास-पड़ोसके भले आदमियोंसे कहलवाइये। नितान्त असम्भव होनेपर, मनमें राग-द्वेष न रखते हुए कानूनी सलाह लेकर तदनुसार उचित कार्यवाही भी की जा सकती है। सुन्दरकाण्ड, हनुमानचालीसाका पाठ करते हैं, सो करते रहिये। **'ॐ गं गणपतये नमः'** इस मन्त्रकी पाँच मालाका जप इसी उद्‌देश्यसे करना शुरू कर दीजिये। भगवत्कृपाका भरोसा कीजिये। उनकी कृपासे सब कुछ सहज सम्भव है। शेष भगवत्कृपा।

——::×::——

पत्नीका परित्याग उचित नहीं है

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। पत्र मिला। उत्तरमें निवेदन है कि अपने एक सहकर्मीकी राक्षसी वृत्तिपर क्षोभ होना तो स्वाभाविक ही था, परंतु दैवी-शक्तिकी प्रेरणासे आपने डूबकर आत्महत्या नहीं की और 'पापका प्रायश्चित्त आत्महत्या नहीं, पापका परिष्कार और पुनः न होने देनेका निश्चय ही है'—यह बुद्धि आपको आ गयी, सो बहुत अच्छा हुआ। वास्तवमें ऐसी ही बात है।

सज्जन नवयुवकको पत्नीका प्रयत्न करके यथासाध्य प्रेम-स्नेहके सद्व्यवहारसे उसे सुधारना है। निराश न होकर भगवत्कृपाके आश्रयसे सत्प्रयास जारी रखना है। भगवान्से विश्वासपूर्वक प्रार्थना करना है।

पत्नी-परित्याग वास्तवमें पाप ही है, यथासाध्य इससे बचना चाहिये। भरण-पोषण तो सबका भगवान् ही करते हैं, परन्तु भगवान्की दी हुई जिम्मेदारीको निबाहना हमारा कर्तव्य है।

भगवत्प्रार्थना, सद्व्यवहार तथा सौम्य वचनोंसे बहुत कुछ सुधार हो सकता है। एकान्तवास साधनके लिये बीच-बीचमें किया जाय तो अच्छा है; परन्तु ऊबकर या खीझकर नहीं।

मनुष्य अपनेमें कितने ही दोष होनेपर कभी अपनेसे घृणा नहीं करता; कभी अपना त्याग नहीं करता तथा कभी अपना अहित नहीं चाहता—करता। यही भाव ठीक दूसरोंके प्रति हमारा होना चाहिये। शेष भगवत्कृपा।

——::×::——

जगत् और जगत्के भोगोंमें सुख है ही नहीं

प्रिय भाई ! सप्रेम हरिस्मरण। तुम्हारा पत्र मिला। तुम्हारा लिखना बहुत ठीक है, पर भैया ! यह जगत् बना ही है अनित्य अपूर्ण उपादानोंसे। प्रकृतिके विक्षोभ या अशान्तिसे ही इसकी रचना हुई है; अतएव प्रतिकूलता, अभाव, रोग-शोक, विपत्ति, दुःख आदि अशान्तिके कारण जगत्के स्वरूपगत हैं। सम्राट् हो या भिखारी—जगत्से न किसीको शान्ति-सुख मिला है, न मिल सकता है। एक अभाव, एक दुःख दूर होगा तो तत्काल दूसरे दस-पाँच आकर खड़े हो जायँगे। सुख-शान्तिका उपाय तो एक ही है—जिस जीवनको जगत्में झोंक रखा है, उसे भगवान्के अर्पण कर दिया जाय। भगवान्में शान्ति-सुख, सौन्दर्य-माधुर्य, पूर्णता-अविनाशिता आदि स्वरूपगत है और नित्य पूर्ण हैं। भगवान्से प्रेम करो; हटा लो आसक्ति-ममता, जगत्के दुःख-परिणामी भोगोंसे; मल-मूत्र, अस्थि-मांसके पिण्ड इस शरीरसे निकाल दो अहंताको। अनित्य-असत्को छोड़कर नित्य-सत् भगवान्से सम्बन्ध जोड़ लो, जो जुड़ा ही है; केवल पर्दा हटाना है। तभी सुख-शान्ति मिलेंगे। अन्यथा खोज करते रहो जगत्के भोगोंमें शान्तिकी—धन-सम्पत्ति-मान-प्रतिष्ठा, पद-अधिकार, पुत्र-मित्र आदिमें सुखकी—सदा निराश ही रहोगे,

वैसे ही, जैसे अन्धकारसे प्रकाशकी आशा व्यर्थ होती है, संतप्त बालूमेंसे कभी तेल नहीं निकलता। सोचकर—दृष्टि फैलाकर देखो, जगत्में जगत्के प्राणिपदार्थ-परिस्थितियोंमें कौन सुखी है ? दूसरोंकी बात छोड़ो—पाण्डवोंने भगवान् श्रीकृष्णको सखारूपमें, परम आत्मीय रूपमें पाया, पर सारा जीवन बीता दुःख-विपत्तिमें ही। पर वह दुःख-विपत्ति भगवान्को मिलानेवाली हुई, इसीसे कुन्तीदेवीने भगवान्से विपत्तियोंका ही वरदान माँगा।

भैया ! हमलोग जो यहाँ सुख खोज रहे हैं, यह यथार्थमें हमारा प्रमाद है। इस मिथ्या आशा-आस्थाको छोड़कर यहाँ जो कुछ होना है, उसे होने दो और भगवान्के बननेकी कोशिश करो। इसीमें कल्याण है। शेष भगवत्कृपा।

——::×::——

विपत्ति भगवान्‌का वरदान

सम्मान्य महोदय ! सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपके विचार बहुत सुन्दर हैं। भगवान्‌को इसीलिये नहीं पाते कि हम उन्हें वास्तवमें चाहते ही नहीं हैं; संसारकी नगण्य तथा तुच्छ वस्तुओंके पाने-भोगनेमें ही मस्त रहते हैं। उनके न मिलने या चले जानेपर बड़े बेचैन होते हैं, रोते-कराहते हैं, पर भगवान्‌के लिये हम कब बेचैन होते हैं ? हमारे प्राण कब उनके लिये हाहाकार कर उठते हैं। नहीं तो, नित्य सत्य सर्वत्र व्याप्त आत्मस्वरूप भगवान्‌के मिलनेमें देर क्यों होती ? भगवान् प्रारब्धसे मिलनेवाली कर्मजनित अनित्य वस्तु नहीं हैं; वे तो नित्य हैं और केवल चाहसे ही मिलते हैं। हम यदि भगवान्‌को भजते भी हैं तो अनित्य भोगसुखोंके लिये ही। जबतक भोग-विलास, धन-सम्पत्ति रहती है, मनकी चाह सफल होती रहती है, तबतक भगवान् बहुत अच्छे हैं—दयालु हैं। जरा भी त्रुटि हुई कि फिर या तो भगवान्‌को कोसते हैं या उनके अस्तित्वपर ही संदेह करने लगते हैं। दूसरोंके विलासमय जीवनको देखते हैं तो ललचाते हैं—भगवान्‌का भजन करनेपर भी हम उससे वञ्चित क्यों हैं ? इसके लिये भगवान्‌की कृपापर, उनकी सत्तापर अविश्वास करने लगते हैं। जरा गहराईसे विचार कर देखिये—हम भगवान्‌को चाहते हैं या भोगोंको। ठीक दिखायी देगा—हम भगवान्‌को नहीं चाहते, भोगोंको चाहते हैं। फिर हम भगवान्‌को कैसे पायें !

****

अवश्य ही भगवान् बड़े दयालु हैं; हम जब क्षणिक तथा दुःखपरिणामी भोगोंको पाकर होश-हवास खो बैठते हैं, तब भगवान् विपत्ति-वरदान भेजते हैं। जोरकी चोट करते हैं और फिर उस चोटमें उनका स्पर्श प्राप्त होनेपर हमारे होश ठिकाने आते हैं। आप अपने अबतकके जीवनपर ध्यान देकर देखिये—सचमुच आपके जीवनमें ऐसा ही हुआ है। इस समय दयामय भगवान् आपके माया-मोह, ममता-आसक्तिको मिटानेका पवित्र कार्य कर रहे हैं— इस विपत्तिको भेजकर, इस प्रकार गालपर जोरकी चपत लगाकर। इसे भगवान्का मङ्गल वरदान समझिये। भीतरका सारा कूड़ा-कचरा जलकर भस्म हो जायगा और फिर उस शुद्ध अन्तर्देशमें भगवान् आ विराजेंगे। आपको इसका आभास हो रहा है—यह भगवत्कृपा ही है। आप निश्चिन्त मनसे भगवान्के प्रति अपनेको बेशर्त समर्पण कर दीजिये। उनके हरेक विधानकी मङ्गलमयतापर विश्वास करके निश्चितरूपसे निर्भर हो जाइये। निश्चय समझिये, भगवान् आपको अपना रहे हैं, समीप-से-समीप खींचे लिये जा रहे हैं। आपका परम कल्याण, आपको भगवत्प्रेमकी प्राप्ति भगवत्कृपासे निश्चय ही होगी। इसपर दृढ़ विश्वास कीजिये। शेष भगवत्कृपा।

——::×::——

सबमें एक ही आत्मा समझकर सबका हित करना है

प्रिय महोदय! सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। इस समय देशमें जो धर्मके नामपर भयानक विध्वंसक हिंसाकाण्ड हो रहे हैं, इससे आपको दुःख होता है, सो ठीक ही है। प्रत्येक विचारशील पुरुषको दुःख होता होगा। वास्तवमें अध्यात्मजगत्का शिरोमणि भारत—जो प्रत्येक वस्तुपरिस्थितिमें आत्मा या ईश्वरको देखकर आत्म-कल्याणके कार्य करता था—आज पथभ्रष्ट हो रहा है। सच्ची बात तो यह है कि हम पहले आत्मा हैं, फिर मनुष्य हैं, फिर हिन्दू-मुसल्मान-ईसाई आदि हैं। फिर अमुक देशवासी हैं, फिर अमुक जातिके हैं, अमुक प्रदेशके हैं, अमुक परिवारके हैं, फिर हम अमुक व्यक्ति हैं। अतएव जिसमें आत्मापर आघात होता हो, वैसा कोई भी कार्य कभी भी व्यक्तिगत स्थितिसे लेकर मनुष्यकी स्थितितक, किसी भी स्थितिमें नहीं करना चाहिये। मानव, पशु-पक्षी, हिन्दू-मुसल्मान, ईसाई, भारतीय-पाश्चात्त्यदेशीय, मालिक-मजदूर, ब्राह्मण-चाण्डाल, पंजाबी-बंगाली, सगे-सम्बन्धी, पिता-पुत्र, पति-पत्नी—सभीमें एक आत्मा है। नाटकके पात्रकी भाँति अपने जिम्मेका काम करना है—सावधानीके साथ भलीभाँति; पर कहीं भी, किसीमें भी राग-द्वेष न रहे। जिसमें सबका हित हो, सब सुखी हों, ऐसा ही कार्य करना चाहिये। पर जब मनुष्यका 'स्व' अत्यन्त सीमित हो जाता है, तब वह छोटे-छोटे स्वार्थमें सीमित होकर और उसमें अपनी भलाई

समझकर ऐसे-ऐसे कार्य करता है, जिससे न उसका भला होता है, न दूसरे किसीका; वरं दुःख-अशान्ति बढ़ते हैं, जीवन अस्त-व्यस्त तथा संत्रस्त रहता है, पापमें ही कर्तव्य-बुद्धि एवं गौरव-बुद्धि होनेके कारण पापसे छूटनेकी कभी इच्छा ही नहीं होती और नये-नये पाप बढ़ते रहते हैं। अशान्तिमें ही मृत्यु होती है और मृत्युके बाद नरक-यन्त्रणा भोगनी पड़ती है। पर आज तो 'कुएँ भाँग पड़ी है'। विद्वान्-नेता, उपदेशक-शासक, आचार्य-विद्यार्थी, धनी-मजदूर प्रायः सभी मोहजनित सीमित स्वार्थवश इसी ओर जा रहे हैं। पता नहीं, क्या परिणाम होगा। जो बचे रह सकें, उन्हें बचे रहकर तथा सम्भव हो तो भगवत्कृपाका आश्रय लेकर फैलते हुए विष-प्रवाहको रोकनेका यथासाध्य प्रयत्न करना चाहिये। शेष भगवत्कृपा।

——::×::——

पतिका धर्म

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपने जो कुछ लिखा, उसका उत्तर यह है कि पत्नीके लिये पातिव्रतधर्म जैसे पालनीय है, वैसे ही पतिको भी एक पत्नी-व्रत अवश्य आचरणीय है। पुरुष जो स्त्रियोंका धर्म बताते हैं, उन्हें धर्मपर आरूढ़ देखना चाहते हैं, सो तो उचित ही है। स्त्रीको पुरुषका धर्म न देखकर अपने धर्मका अवश्य पालन करना चाहिये, इसीमें उसका महत्त्व है। परंतु पुरुषोंको भी केवल परोपदेश करनेमें पण्डित न रहकर स्वयं धर्मका आचरण करना चाहिये। रामकी भाँति **'जेहि सपनेहुँ परनारि न हेरी।'** एक पत्नीव्रती रहना तथा जगत्की स्त्रीमात्रको या तो माता जगदम्बाका रूप—**'स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु। त्वयैकया पूरितमम्बयैतत्'** (दुर्गा० ११। ६) मानना चाहिये या उम्रके अनुसार माता, बहन तथा कन्या समझना चाहिये। ऐसा करनेसे ही पुरुष स्त्रियोंको भी ठीक उपदेश देने और सुपथपर चलानेके अधिकारी हो सकते हैं। आप कृपया मेरे इस निवेदनपर ध्यान दीजियेगा। आपकी सुलक्षणा धर्मपत्नी बड़े नियम-संयमसे रहती हैं, आपकी सब प्रकारसे सेवा करती हैं, पर कभी-कभी नम्रताके साथ आपको जीवनमें सदाचारकी रक्षाके लिये समझाती हैं; सो यह तो आपका सौभाग्य है, जो आपको ऐसी पत्नी मिली हैं। उनकी बातको बुरा न मानकर उसका आदर करना तथा तदनुसार आचरण करना चाहिये। पुरुषके लिये पत्नीके समान मित्र और कोई नहीं है। उन्हें आप मित्र मानिये। शेष भगवत्कृपा।

——::×::——

भगवान्‌को गुरु बनाइये

सप्रेम हरिस्मरण ! आपका पत्र मिला। मेरे प्रति आपकी जो सद्भावना है, उसके लिये तो मैं आपका कृतज्ञ हूँ, परंतु आपने अपने लम्बे पत्रमें बहुत-सी बातें ऐसी लिखी हैं, जो वास्तविक नहीं हैं।

'गीताप्रेस' और 'कल्याण' का प्रारम्भ और संचालन वैसे तो भगवान्‌की शक्तिसे हुआ और होता है; परंतु यथार्थमें देखा जाय तो इनके प्रतिष्ठापक श्रीजयदयालजी गोयन्दका हैं और गीताप्रेसका काम आगे बढ़ानेवाले हैं—श्रीघनश्यामदासजी जालान। ये दोनों ही इस लोकको छोड़ चुके हैं। सम्पादन-कार्यमें भी सच पूछा जाय तो हमारे श्रद्धेय पूजनीय विद्वान् लेखकोंको ही इसका श्रेय है, मैं तो केवल निमित्त बनकर श्रेय ले रहा हूँ। इसे भाग्य कहिये या मेरी चातुरी ! इसके सिवा और कुछ नहीं।

आपने अपने मनमें क्या कल्पना कर रखी है, यह मुझे पता नहीं। आजकल तो भारतवर्षमें पचासों अवतार हो रहे हैं। वैसे ही किसीने मेरा नाम भी किसी अवतारमें ले लिया हो तो यह नाम लेनेवालेकी जिम्मेदारी है। मैं न अवतार हूँ, न भगवान् हूँ, न मुझमें कोई विशेषता है। इस विषयमें अपनी परिस्थितिका स्पष्टीकरण करनेके लिये मैंने पिछले दिनों एक पुस्तिका भी छपवायी थी।

भगवान्‌की दृष्टिसे भगवान्‌के सिवा और कुछ है ही नहीं। आत्माकी दृष्टिसे सब आत्मा है। भक्त यदि प्राणिमात्रमें भगवान् मानकर भगवान्‌की उपासना करे तो बहुत उत्तम है, पर उसमें ब्रह्मासे लेकर कीट-पतंग, नद-नदी, वृक्ष-लता—सभी आ जाते हैं। पुत्रके लिये पिता-माताको, पत्नीके लिये पतिको, शिष्यके लिये गुरुको

भगवान् मानकर उनकी सेवा करनेका शास्त्रका जो उपदेश है, वह उन लोगोंके उद्धारके लिये है। पर किसी पुत्रका पिता, किसी पत्नीका पति, किसी शिष्यका गुरु सबके लिये भगवान् नहीं हैं। यह एक विशेष बात है, जो गृहस्थमें रहकर भी भगवत्प्राप्तिका मार्ग सुलभ करनेवाली है। मैं तो शास्त्रकी इस बातको मानता हूँ कि 'पाञ्चभौतिक शरीर और नामवाला कोई मनुष्य यदि अपनेको भगवान् कहता है और दूसरोंके कहनेपर अपनेको भगवान् मान लेता है, तो वह नरकगामी होता है।'

आपने मुझे गुरु माना, सो आपकी कृपा है; पर गुरु तो वह होता है जो शिष्यके तमाम अज्ञानका हरण करके उसे भगवद्धामतक पहुँचानेका भार ले सके। इतना जिसमें गुरुत्व हो, वही गुरुके योग्य है। मेरे-जैसे लोग तो शिष्य होनेलायक भी नहीं हैं, जो सद्गुरुकी प्रत्येक आज्ञाका बिना संदेहके पालन भी न कर सकें। इसलिये मैं न तो आजतक किसीका गुरु बना, न मुझमें बननेकी योग्यता है और न किसीको भी मुझे गुरु मानना ही चाहिये। यों अपनी शिक्षाके लिये दत्तात्रेयजीने चील, अजगर आदिसे भी शिक्षा ग्रहणकर उनको गुरु माना है। वैसे कोई किसीको भी अपने मनमें गुरु मान ले तो यह उसका गुण है, उस गुरुका महत्त्व नहीं।

मेरा तो यह निवेदन है कि आप गुरु बनानेके चक्करमें न पड़ें। भगवान् श्रीकृष्ण सबके गुरु हैं—'**कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्**।' उनको गुरु मानकर और उनकी दिव्यवाणी गीताको गुरुका महान् उपदेश मानकर उसके अनुसार जीवन बनाना प्रारम्भ कर दें तो आपका निश्चय ही कल्याण हो सकता है। शान्ति-सुख बाहरसे नहीं आते; ये तो कामना-वासनाके परित्यक्त होनेपर अथवा भगवान्के मङ्गलविधान-पर पूर्णतया विश्वास होनेपर ही आ सकते हैं। शेष भगवत्कृपा।

अनन्य श्रद्धाका स्वरूप

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला।

आपके प्रश्नोंका वास्तवमें शब्दोंसे उत्तर नहीं दिया जा सकता। किसी सच्चे अनन्य श्रद्धालु पुरुषका जीवन ही उनका उत्तर होता है, तथापि आपके आग्रहके कारण कुछ विचार नीचे प्रकट कर रहा हूँ। आप उनपर मनन कीजियेगा, यह प्रार्थना है।

श्रद्धाका तब पता लगता है, जब, जिनमें हमारी श्रद्धा हम मानते हैं, उन महानुभावका कोई कार्य हमारे मनसे सर्वथा प्रतिकूल हो रहा हो और हमारी बुद्धिके अनुसार जिससे कोई लोकहित भी न हो और न परमार्थके साधनमें ही सहायता मिलती हो। श्रद्धेय महापुरुषके इस प्रकारके विपरीत निर्णय और आचरणके समय भी हमारे मनमें श्रद्धा अक्षुण्ण बनी रहे। उनका वह कार्य हमें किसी भी प्रकारसे प्रतिकूल तो प्रतीत हो ही नहीं, बल्कि हमारा मन उनके अनुकूल उस कार्यमें योगदान करनेकी इच्छा करे।

हमलोग जिनको महात्मा या महापुरुष मानते हैं, वे यदि वास्तवमें महापुरुष या महात्मा हैं तो उनका कोई कार्य ऐसा नहीं हो सकता, जिससे किसीका परिणाममें अकल्याण हो या जो परमार्थ-विरोधी हो। जो त्रिगुणजनित विकारों तथा प्राकृतिक द्वन्द्वोंसे परे हैं; जो चराचर सबमें सदा अपने आत्माका अनुभव करते हैं, जो नित्य स्वस्थ (आत्मस्थ) हैं या जो चराचर अखिल विश्वमें सदा श्रीभगवान्‌का अव्यवधान दर्शन-स्पर्श प्राप्त करते हैं, उनके द्वारा सबको सहज ही वैसे ही कल्याण प्राप्त होता है, जैसे अमृतके द्वारा अमरत्व।

ऐसे संत-महापुरुष, भगवान्‌की भाँति सर्वज्ञ नहीं भी होते, तो भी, भविष्यज्ञ—कम-से-कम अपने वातावरणसे सम्बद्ध भविष्यके ज्ञाता तो अवश्य होते हैं, वे भविष्यद्रष्टा या दूरद्रष्टा होते हैं, इसलिये वे बहुत दूरकी चीजको—सुदूर भविष्यके अच्छे-बुरे परिणामको प्रत्यक्षवत् देख सकते हैं। अतः वे जो कुछ निर्णय या कार्य करेंगे, वह सर्वथा कल्याणकारक ही होगा। सम्भव है, उनका वह बाहरी कार्य—आचरण अभी हमारी समझमें न आवे या हम अपनी दृष्टिके अनुसार उसमें दया, प्रीति, समता, त्याग आदि न देखें, हमें उसमें दोष ही दिखायी दे; पर यह हमारी अज्ञानदृष्टि है, महात्माका स्वरूप नहीं। तुलसीदासजी कहते हैं—

जिमि सिसु तन ब्रन होइ गोसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं॥
जदपि प्रथम दुख पावइ रोवइ बाल अधीर।
ब्याधि नास हित जननी गनति न सो सिसु पीर॥

छोटे अज्ञान बच्चेके फोड़ेको माँ बड़ी कठोर हृदयवाली-सी बनकर किसी जर्राहसे चिरवाती है। बच्चा रोता है, माँको भला-बुरा कहता है, पर बच्चेका कल्याण चाहनेवाली माँ अथवा माँके कार्यका अर्थ समझनेवाले समझदार लोग क्या उसे बुरा मानते हैं ? बल्कि वे भी माँकी सहायता करते हैं। इसी प्रकार महात्मा पुरुष कभी-कभी 'वज्रादपि कठोर' हो जाते हैं, पर उनका वह व्यवहार—आचरण निश्चय ही कल्याणकारी होता है; क्योंकि उनका हृदय सदा ही सहज कल्याणमय और 'कुसुमादपि मृदु' है। अतः उनके व्यवहारमें हर हालतमें अनुकूलता देखनेवाला ही वास्तविक श्रद्धालु है।

एक महात्माने दो भक्तोंको, जो सर्वथा निर्दोष माने जाते थे,

आश्रमसे निकलवा दिया था। उन दोनोंमें एक अनन्य श्रद्धालु था, उसको तो इससे सहज आनन्दकी उपलब्धि हुई। उसने कहा—'हमें दूर रखनेमें निश्चय ही हमारा कल्याण है; हम सर्वथा उनके अपने हैं, वे सर्वथा अपना मानते हैं; इसीसे दयापरवश होकर वे हमें दूर भेज रहे हैं। यह उनका प्रेम-पुरस्कार है।' वह हँसता हुआ गया। दूसरेने सोचा—'उन्होंने किया तो मेरा कल्याण ही है, जो दण्ड दिया है; परंतु मुझसे ऐसा कौन-सा अपराध हो गया, क्या दोष बन गया, जिसके कारण उन्हें ऐसा करना पड़ा।' वह संकल्प-विकल्प करता हुआ गया।

कुछ लोगोंको महात्माजीका यह कार्य बुरा लगा, पर उसके कुछ समय बाद एक ऐसी घटना हुई, जिससे यह सिद्ध हो गया कि वे दोनों आश्रममें रहते तो उनका और आश्रमका बहुत ही नुकसान होता। उनके चले जानेसे दोनों ही इस नुकसानसे बच गये। तब लोगोंकी समझमें आया कि महात्माने उनके साथ कड़ा बर्ताव क्यों किया था?

हाँ, जो वास्तवमें महात्मा नहीं हैं, दम्भ करते हैं, वासनाओंके दास हैं, भोगासक्त तथा काम-कलुषित-चित्त हैं—ऐसे नामधारी मिथ्या महात्माकी किसी भी अनुचित बात या क्रियाका कभी समर्थन नहीं करना चाहिये। पर 'वे महात्मा हैं या नहीं' यह पता कैसे लगे? इसका उत्तर यह है कि जिसमें सच्ची 'अनन्य श्रद्धा' होती है, उसके मनमें न तो संदेह होता है, न पता लगानेकी ही कभी कल्पना होती है; क्योंकि उसकी वह 'अनन्य श्रद्धा' उस व्यक्तिका नित्य-निरन्तर निश्चित महात्माके रूपमें ही उसे दर्शन करवाती रहती है और उसकी उस सच्ची श्रद्धाके फलस्वरूप वह

व्यक्ति दुरात्मा होनेपर भी भगवद्-विधानसे उसके लिये 'महात्मा' ही सिद्ध होता है। यों उसके लिये विष भी अमृत हो जाता है।

जहाँ 'अनन्य श्रद्धा' न होकर 'विचारवती श्रद्धा' होती है, वहाँ जो कार्य अपनी विवेकबुद्धिसे और शास्त्रदृष्टिसे अनुचित लगे, उसका अनुकरण तथा समर्थन तो करना ही नहीं चाहिये, वरन् आज्ञा देनेपर भी उसका पालन नहीं करना चाहिये। यह याद रखना चाहिये कि गुरुजनोंकी उस शास्त्रविपरीत दीखनेवाली आज्ञाका पालन तो करना चाहिये, जिससे परिणाममें अपनेको दुःख-पीड़ा-संताप होनेकी सम्भावना हो, पर जिससे उनका निश्चित रूपसे हित होता हो। परन्तु जिस आज्ञाके पालनसे उन आज्ञा देनेवालोंका भी परिणाममें अहित दीखता हो, उन्हें दुःख-पीड़ा-संताप होनेकी सम्भावना प्रतीत होती हो, उसका पालन नहीं करना चाहिये।

अतएव मेरा आपसे यही निवेदन है कि इस प्रकारके अवसरपर यदि उनके प्रति आपकी 'अनन्य श्रद्धा' हो तो उन महात्माके प्रत्येक कर्मको निश्चय ही कल्याणकारी समझिये और मनकी किसी भी वृत्तिसे उसका कदापि जरा भी विरोध मत कीजिये और 'अनन्य श्रद्धा' होनेपर आप स्वयं विरोध कर सकेंगे ही नहीं। पर यदि ऐसी श्रद्धा न हो तो आपकी विवेकबुद्धि जो कुछ भी, जैसा भी निर्णय करे, तदनुकूल, भगवान्‌की सेवाके भावसे—मनमें किसीके प्रति द्वेष न रखकर, काम कीजिये। इससे भी कोई हानि नहीं होगी, वरन् आपके क्षेत्रमें अनुकूल लाभ ही होगा। शेष भगवत्कृपा।

——::×::——

अपनी भूलके लिये क्षमा माँगना ऊँचापन है

सम्मान्य तथा प्रिय महोदय ! सादर हरिस्मरण। स्वभावदोष तथा शरीरकी अस्वस्थताके कारण उत्तर कुछ देरसे जा रहा है, कृपया क्षमा कीजियेगा। आपका दूसरा स्मृतिपत्र भी परसों मिल गया था।

आपने घटनाका जो वर्णन लिखा और उसपर 'अपने हितकी दृष्टिसे तथा मेरे लिखनेके अनुसार ही आप करेंगे'—यह लिखते हुए मेरी संकोचरहित सम्मति चाही, यह आपका शील है। आपने मुझपर इतना विश्वास किया, इसके लिये मैं आपका कृतज्ञ हूँ। मेरी तुच्छ सम्मतिमें जो बात ठीक प्रतीत होती है, वह लिख रहा हूँ। हो सकता है—कहीं भूलसे कुछ अनुचित लिख जाऊँ, पर मुझे अपनी रायके हितकारक होनेमें संदेह नहीं है; आप इसे पूर्णरूपसे मानकर ऐसा ही करें—यह मेरा आग्रह नहीं है। आपकी शान्त विवेकबुद्धि जैसी कुछ सम्मति दे, जिसमें आपको अपना कल्याण प्रतीत हो, आप वही कीजिये।

जो किसीका अपमान-तिरस्कार करनेमें गौरव मानते हैं, गर्व करते हैं, वे तो असुर हैं, उनके दोष सहज ही मिटेंगे नहीं और उनकी निश्चित ही दुर्गति भी होगी। मनुष्यकी बुद्धि जब तमोगुणसे ढक जाती है, तब ऐसा ही होता है। आपको 'अपनी भूल-सी भी मालूम होती है, किंचित् पश्चात्ताप भी होता है और भूल हो तो उसे मानने तथा हृदयसे आप उसका सुधार करना चाहते हैं'—यह आपकी

दैवी सम्पदाका एक लक्षण है। इसीसे मैं भी आपको कुछ लिखनेका साहस कर रहा हूँ।

मेरी समझसे आपने बड़ी भूल की है। उक्त सज्जन आपके सामने बोले, उन्होंने कटु शब्द कहे—यह अवश्य उनका दोष है, पर इससे पहले आपके द्वारा प्रकारान्तरसे उनकी कुछ अवज्ञा हो चुकी थी। उन्हें स्नेहपूर्ण वचन-सुधाधारा मिलती तो वह छिपी आग बुझ जाती, उनका हृदय शीतल-शान्त हो जाता; पर आप भी आवेशमें आ गये। मनुष्य जब आवेशमें आता है, तब उसको क्रमशः सम्मोह, स्मृतिभ्रंश और बुद्धिविनाशकी स्थिति प्राप्त होती है; उस समय वह 'सर्वनाश' कर बैठता है। आपसे भी किसी अंशमें आवेशके कारण ऐसा ही हो गया।

आप यह जानते ही हैं कि प्राणिमात्र—खास करके मनुष्य सहज ही सम्मान चाहता है। अतएव वह किसीके द्वारा भी किया हुआ जरा-सा भी अपमान सहन नहीं कर सकता। समर्थ होता है या आवेशमें आ जाता है तो वह बदलेमें उतना ही या उससे भी अधिक अपमान कर बैठता और असमर्थ होनेपर मन-ही-मन शाप देता है। उसके हृदयमें एक जलन पैदा हो जाती है, जो अपमान करनेवालेको जलते देखकर ही प्रायः शान्त होती है। अतएव भाव तथा संकेतसे भी कभी किसीका अपमान न करे, वाणीसे तो कभी करे ही नहीं। खास करके जो अपनेसे किसी प्रकार नीचे पदपर हों, उनके लिये तो विशेष सावधानी रखे। किसी भी छोटे-से-छोटे मनुष्यका भी कभी अपमान न करे—बहुत नीचे नौकरों तथा छोटे बच्चोंका भी नहीं, पशु-पक्षीका भी नहीं। सम्मानसूचक मधुर सुधा-वाणीसे सबको अमृत देकर आप्यायित

करता रहे। आपके द्वारा यह बड़ी भूल हुई कि आपने उनके भली नीयतसे किये हुए कामकी भी अभिमानवश निन्दा की, उसे न करनेका आदेश दिया और उनकी भलाई तथा नेकनीयतीका आदर न करते हुए रूखे, कड़े तथा अपमानसूचक शब्दोंका उनके प्रति प्रयोग किया। संतोंका तो यह स्वभाव होता है कि वे गाली-शाप देनेवालों तथा प्रत्यक्ष अनिष्ट करनेवालोंका भी सम्मान करते तथा उनका सहज ही हित चाहते हैं—***'मंद करत जो करइ भलाई।'*** भगवान्ने (गीता १२। १३) में भक्तके लक्षण बतलाते हुए आरम्भमें ही कहा—वह सर्वत्र द्वेषरहित, सबसे मैत्री भावसे बर्तनेवाला, करुण-हृदय ममता तथा अहंकारसे रहित, अपने सुख-दुःखमें समबुद्धि रखनेवाला तथा क्षमावान्—'बुरा करनेवालेका भी भला करनेवाला होता है।' यह संत-स्वभाव न सही, कम-से-कम अपनी ओरसे तो कभी किसीका अपमान न करे। किसीका जी न दुखावे। अपमान करनेपर उसके मनमें बैठे हुए भगवान्को संताप होता है, उसके मनमें द्वेष उत्पन्न होता है, वह कोई अच्छा काम कर रहा हो तो उसमें बाधा आती है; वैरका बीज बोया जाता है, हिंसा-प्रतिहिंसाके पापका प्रारम्भ हो जाता है, अशान्ति पैदा होती है और दूसरेके मनके भावानुसार अपने मनमें भी वे सारे दोष आने लगते हैं। अतएव किसी भी प्रकारका अभिमान न करके सदा विनय-विनम्र रहे। मनुष्यको धनका, बुद्धिका, विद्याका, पदका, अधिकारका, ऐश्वर्यका, शक्तिका, सम्मानका, दानका, सत्कर्मका—यहाँतक कि सदाचारका, तपका, साधनका, सेवाका और त्यागतकका अभिमान हो जाता है और अभिमानके कारण उसका पतन हो जाता है—लोकदृष्टिमें

भी और वास्तविक अपनी स्थितिसे भी। सुतरां, इस अभिमानसे बचे। भगवान् भी अभिमानके साथ द्वेषकी तथा दैन्यके साथ प्रेमकी लीला करते हैं—

'ईश्वरस्याभिमानद्वेषित्वाद् दैन्यप्रियत्वाच्च।'

(नारदभक्ति-सूत्र—२७)

अतएव मेरी तुच्छ सम्मति मानें तो आप संकोच और झेंप छोड़कर सहर्ष अपनी भूल स्वीकार करते हुए उनसे क्षमा माँग लें। भविष्यमें ऐसा न करनेकी मन-ही-मन प्रतिज्ञा करें। वे एक बारमें क्षमा न करके आपसे न बोलें, रूखा बर्ताव करें, कड़े बोलें, अपमान करें तो उसे सह लें और मनमें सच्चा पश्चात्ताप करते हुए उनसे बार-बार क्षमा माँगें और क्षमा-याचनाका भी कभी अभिमान न करें। याद रखें—क्षमा-प्रार्थना करनेवाला कभी नीचा नहीं होता।

क्षमा-याचना, सेवा, सद्व्यवहार, नम्रता आदिके द्वारा उनके मनकी सारी जलन बुझा दें और उसमें रही हुई द्वेषकी भावनाका सर्वथा नाश कर दें। मनुष्य अपने सद्व्यवहारसे शत्रुको भी मित्र बना सकता है। पर कदाचित् ऐसा न भी हो, वे प्रसन्न न भी हों तो कम-से-कम आप अपने मनसे द्वेष या वैर-भावनाको सर्वथा निकालकर उसे सर्वथा शुद्ध कर लें।

मुझे परलोकके एक प्राणीने अपनी आँखों देखी बात बतलायी थी कि 'जो द्वेष या वैर लेकर मरता है, उसकी नरकोंमें बड़ी ही दुर्गति होती है।' आप ऊँचे हैं, बहुत विद्वान् हैं, आपके पास अधिकार है—यह सत्य है; पर इससे तो आपको और भी नम्र होना चाहिये। तराजूका जो पलड़ा भारी होता है, वह नीचा

होता है। ऊँचा वही है, जो नीचे-से-नीचेमें भगवान्‌को देखकर—उसको अपने मनमें ऊँचा मानकर, उसका सम्मान, नमन, हित-साधन करता है और अपने लिये तो साधक—

'सम्मानं कलयातिघोरगरलं नीचापमानं सुधा।'

'सम्मानको भीषण विषके समान तथा नीचापमानको अमृतके समान समझे।' यह न हो तो, कम-से-कम द्वेषकी भावनाको सर्वथा निकालकर सबका सम्मान, सबका हित, सबको सुख पहुँचानेका प्रयत्न करें। निश्चय समझें—सबमें एक भगवान् हैं, अपने प्रत्येक कर्मद्वारा उनकी पूजा करें, उनकी सेवा करें।

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत का सन करहिं बिरोध॥
सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

भगवान्‌से यह प्रार्थना नित्य कातर भावसे कीजिये—

बिनती तुमसे है यही, हे मेरे भगवान।
कभी किसीका भी नहीं हो मुझसे अपमान॥
सबमें देखूँ तुम्हींको छोड़ सभी अभिमान।
सबकी सेवा-हित करूँ सबको दूँ सम्मान॥

शेष भगवत्कृपा।

——::×::——

हाड़-मांसके पुतलेको भगवान्‌के आसनपर बैठाना पाप है

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपने जो कुछ लिखा, सो सत्य है। यह मानव-जातिका दुर्भाग्य है, जो आज जगह-जगह बहुत-से मानव-प्राणी भगवान्‌को उनके आसनसे खिसकाकर स्वयं भगवान्‌के आसनपर बैठना चाहते हैं और मिथ्या नाम-रूपवाले अस्थि-मांस, मल-मूत्रके पिण्ड अपवित्र शरीरकी पूजा करवाते हैं। ऐसे मनुष्य वास्तवमें अपना तथा जनताका बड़ा अहित करते हैं। मनुष्यके पास जो कुछ भी सम्पत्ति-शक्ति, विद्या-बुद्धि, पद-अधिकार, ऐश्वर्य-वैभव, सौन्दर्य-माधुर्य आदि हैं, सब भगवान्‌की वस्तु हैं, भगवान्‌की ओरसे ही उसे मिली हैं। इन सब वस्तुओंको नम्रतापूर्वक निरन्तर निरभिमान रहकर भगवत्स्वरूप प्राणिमात्रकी यथायोग्य सेवामें समर्पण करते रहना ही मनुष्यका कर्तव्य है और इसीमें इनकी सार्थकता है; पर मनुष्य इस बातको भूलकर इन वस्तुओंको (बिना हुए ही अपने पास मानकर—या थोड़ी-बहुत किसीके पास हो तो उसको) अपनी वस्तु मानकर अपनेको भगवान् सिद्ध करने लग जाता है; भगवान् कहलानेमें सुखका—गौरवका अनुभव करता है और जनताके द्वारा हाड़-मांसके पुतले इस पाञ्चभौतिक, क्षणभङ्गुर, सदा अपवित्र शरीरकी पूजा करवाता है—यह उसका प्रमाद-पाप है। पर किससे क्या कहा जाय ! आज तो कुएँमें भाँग पड़ी है। जिधर

देखिये, उधर ही—प्रायः प्रत्येक क्षेत्रमें ही, धार्मिक तथा आध्यात्मिक कहे जानेवाले क्षेत्रोंमें विशेषरूपसे—व्यक्तिपूजा करानेवाले ईश्वरके अवतारों तथा साक्षात् ईश्वरोंकी भरमार हो रही है। इससे जो अनाचारका विस्तार हो रहा है—वह बड़ा ही अकल्याणकारी है।

पतिको परमेश्वर मानकर पूजनेवाली—उसके सर्वथा अनुगत रहनेवाली पतिव्रता पत्नीकी भाँति गुरुको भगवान् समझकर उनका सेवा-सम्मान करना निश्चय ही आवश्यक तथा कल्याणकारी है; परंतु जैसे पतिका अपनेको 'परमेश्वर' मानकर पूजा करवाना सर्वथा अनीतिपूर्ण असदाचार है, वैसे ही गुरुका अपनेको 'भगवान्' कहकर पूजा करवाना भी निस्सन्देह सर्वथा अनुचित तथा असदाचार है। इससे बुद्धिमान् मनुष्यको सदा बचना चाहिये। आपसे यदि हो सके और आपकी बातका कोई असर उनपर होता दीखे तो —उन्हें समझाइये। अभी तो वे नये ही भगवान् बनने जा रहे हैं; समझमें आ जाय तो अच्छी बात है, वे भविष्यमें होनेवाले भयानक बन्धन तथा यन्त्रणासे बचेंगे। शेष भगवत्कृपा।

——::×::——

‘हीन भावना’ नहीं आनी चाहिये

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। भक्ति-जगत्में साधकका ‘दैन्य’ उसकी भगवान्के चरणोंमें पूर्ण प्रपत्तिके लिये—भगवान्की अनन्य शरणागतिके लिये आवश्यक साधन है और ऐसे ‘दैन्यभाव’ को प्राप्त मनुष्य भगवान्को बहुत प्रिय हैं, पर यह साधनरूप दैन्य ‘हीन भावना’ (Inferiority Complex) नहीं है। हीन भावनामें तो मनुष्य सर्वथा निराश, उदास, अशक्त, उत्साहहीन, बार-बार असफलताका चिन्तन तथा सफलतामें संदेह करनेवाला, आलसी एवं अकर्मण्य हो जाता है; पर साधन-जगत्के दैन्यमें वह भगवान्का विश्वासी मनुष्य भगवान्की कृपा-शक्तिके बलपर नित्य उत्साहयुक्त सफलताका निश्चयी, सदा हर्षोत्फुल्ल, भगवान्की अमोघ-शक्तिसे शक्तिमान्, भगवत्सेवाके भावसे नित्य सहर्ष सत्कर्मोंमें लगा हुआ होता है। उसमें ‘हीन भावना’ का सर्वथा अभाव होता है।

असलमें हीन भावनाका उदय भगवान्की कृपापर अविश्वास करनेवाले मनुष्योंमें ही प्रधानतया होता है। भगवान्के सामने अत्यन्त दीन भावनासे रहनेवाले, सचमुच अपनेको सर्वथा दीन-हीन माननेवाले और मेरे समान दीन कोई नहीं है—***‘मो सम दीन न’***—ऐसी घोषणा करनेवाले तुलसीदास प्रपञ्चरूप संसारको ललकारकर कहते हैं—

‘मैं तोहि अब जान्यौ संसार।
बाँधि न सकहि मोहि हरिके बल, प्रगट कपट आगार ॥’

****

अतएव इस साधनरूप दैन्यका तो सदा संरक्षण और पोषण करना चाहिये और निराश, उदास, अकर्मण्य प्रमाद-ग्रस्त उत्साहहीन बना देनेवाली हीन भावनासे सदा बचे रहना चाहिये। कभी भी मनमें निराशाके नकारात्मक (Negative) भावोंको उदय न होने दीजिये। सदा-सर्वदा भगवदाश्रयी रहकर भगवान्‌के बलपर निश्चित सफलताके (Positive) भावोंका सृजन, पोषण तथा संवर्धन करते रहिये। न कभी स्वयं हीन भावनाको आश्रय दीजिये और न अपने कार्यों तथा वचनोंसे दूसरोंमें हीन भावना पैदा कीजिये, न कहीं किसीमें कुछ हो तो उसको बढ़ाइये।

किसी रोगीसे कभी यह न कहिये कि 'तुम्हारा रोग असाध्य है, तुम्हारे नीरोग होनेमें संदेह है, इस अवस्थामें अच्छे होनेकी क्या आशा है? क्यों दवा कराते हो?' आदि—

किसी विद्यार्थीसे यह मत कहिये कि 'तुम क्या पढ़ोगे? तुम्हें तो परीक्षामें फेल ही होना है। तुम्हें उत्तीर्ण होनेकी आशा नहीं करनी चाहिये।' आदि—

किसी कर्मका शुभारम्भ करनेवालेसे ऐसा मत कहिये— 'इतने बड़े काममें तुम कैसे सफल होओगे? क्यों व्यर्थ श्रम करते हो? हमें तो सफलताकी जरा भी आशा नहीं है।' आदि—

किसी सेनाध्यक्ष या सैनिकसे कभी यह मत कहिये कि 'आप क्या जीतेंगे? इतनी बड़ी शक्तिके सामने आपका यह व्यर्थ प्रयास है। आप युद्ध करेंगे तो निश्चय ही हारेंगे। कहाँ अमित शक्ति-पराक्रमवाला आपका विपक्षी और कहाँ नगण्य क्षुद्र बलवाले आप।' आदि—

किसी सेवामें लगनेवालेसे ऐसा मत कहिये कि 'तुम क्या सेवा करोगे ? तुममें न सेवा करनेकी तमीज है, न तुम्हारे पास कोई साधन ही है; झूठ-मूठ ही उत्साह दिखाकर क्यों बवाल मोल लेते हो ? तुमसे सेवा तो बनेगी ही नहीं।' आदि—

किसी व्यापारीसे कभी मत कहिये कि 'तुमको तो घाटा ही लगेगा। तुम यह सब चेष्टा क्यों करते हो ? तुम्हारा भाग्य ही अच्छा नहीं है।' आदि—

किसी बच्चेसे उसके माता-पिता या अभिभावक कभी ऐसी बात न कहें कि 'तुम क्या उन्नति करोगे ? तुम्हें तो जीवनभर दुःखी-दरिद्र ही रहना है। तुम सर्वथा अयोग्य हो। तुमसे कोई काम हो ही नहीं सकता। हमारा प्रारब्ध ही खराब था; जो तुम हमारे यहाँ पैदा हुए।' आदि—

किसी साधकसे कभी यह मत कहिये कि 'तुम साधनमें सफल नहीं हो सकते।' आदि—

अपने-अपने क्षेत्रमें सभीको सफल पुरुषोंके उदाहरण देकर उत्साह दिलाइये और कहिये कि 'ऐसा कौन-सा काम है, जो भगवान्‌की कृपासे ठीक-ठीक प्रयत्न करनेपर सफल नहीं हो सकता। छोटा आदमी बहुत बड़े-बड़े काम कर सकता है। हीनबल मनुष्य भी बलवानोंको हरा सकता है। हर क्षेत्रमें मनुष्य सफलता प्राप्त कर सकता है, यदि वह भगवान्‌के अमोघ कृपा-बलपर विश्वास करके ठीक रास्तेपर चलता रहे और उत्साहपूर्वक अपना काम तत्परतासे करता रहे। भगवान्‌के बलमें विश्वास, उस बलके भरोसे सफलताका निश्चय, तत्परताके साथ कार्यमें लगे रहना और उत्साह कम करनेवाले—दूसरी-दूसरी

और मनको खींचनेवाले वातावरणसे दूर रहना—यों करनेपर निश्चय ही सफलता मिलेगी। कभी निराश मत होइये।'

वास्तवमें अपनेमें तथा दूसरोंमें हीनताकी भावना पैदा करनेवाला अपना तथा दूसरोंका शत्रु है। अतः भगवान्‌के बलपर तथा पुरुषार्थपर विश्वास पैदा करने-करानेवाला अपना तथा दूसरोंका सच्चा मित्र बनना चाहिये, शत्रु नहीं।

आप स्वस्थ और सानन्द होंगे। जो भगवान्‌का आश्रय करके उनके चरणोंमें स्थित है, वास्तवमें वही 'स्वस्थ' है और वही 'आनन्द' का वास्तविक अनुभव करता है। शेष भगवत्कृपा।

——::×::——

लाटरी—एक प्रमाद

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। लाटरीके सम्बन्धमें लिखा, सो यह तो ठीक है कि लाभ-हानि प्रारब्धके अनुसार ही होती है। आप बराबर टिकटें लेते रहे हैं, पर आपको अभीतक कुछ भी नहीं मिला—यह भाग्यकी ही बात है। पर यह काम वस्तुतः अच्छा नहीं है। इसमें बिना श्रम हरामके पैसे पानेकी नीयत है । मेरी राय पूछी, सो मैं तो इसे प्रमाद ही मानता हूँ। आजकल हम सभी धन-लोलुप हो रहे हैं; किसी प्रकार भी हो, धन आना चाहिये। सरकार भी हमारी ही है। सरकारोंकी धन-लोलुपता ही लाटरीका यह प्रमाद है। किसी भी धार्मिक या शिक्षा-सम्बन्धी पवित्र कार्यके लिये इतनी आसानीसे इतने रुपये नहीं मिल सकते; पर इसमें तो गरीब-से-गरीब आदमी अपना पेट काटकर लोभसे पैसे देता है कि कभी पहला इनाम मुझे ही मिल जायगा। अधिक पैसा इसमें गरीबोंका ही आता है। यह सरकारोंका एक तरहका पाप है, जो गरीबोंको प्रलोभनमें डालकर इस अनैतिक जुएके कार्यमें उनसे पैसे बटोरकर अपनी धनकी पिपासाको बढ़ाती रहती हैं। सुना गया है, देशके मान्य तथा वयोवृद्ध विद्वान् श्रीराजगोपालाचारीने राष्ट्रपतिको लिखा था कि 'इस प्रकार गरीबोंको प्रलोभनमें डालकर जुएमें लगाना क्या सरकारोंके लिये लज्जाजनक नहीं है?' कहा जाता है कि यह गैरकानूनी नहीं है। पर कानूनी होनेसे ही कोई कार्य नैतिक या चरित्र-निर्माण करनेवाला नहीं बन जाता है। कसाईखाने कानूनी हैं पर क्या उनमें हिंसाका महापाप नहीं हो रहा है? इसी प्रकार

लाटरीका कार्य कानूनी हो सकता है, पर वह नैतिक कदापि नहीं है; अतः लाटरीका कार्य करने-करानेवाले लोग अनैतिकताको ही प्रोत्साहन देते हैं।

कहा जाता है कि विभिन्न सरकारोंने अबतक सब मिलाकर ४७ करोड़ रुपये इकट्ठे किये हैं, जिनमेंसे लगभग २० करोड़ इनाम बाँटनेमें, कमीशनमें तथा खर्चमें लगे हैं। सबसे अधिक तमिलनाडने रुपये इकट्ठे किये हैं। बात-की-बातमें लखपती बननेकी इच्छासे लोग हरामके पैसेपर मन चलाते हैं और सरकारें उनको प्रोत्साहन देकर रुपये लेती हैं। सुना गया है कि सफलताके कारण लाटरीकी तथा इनामकी रकमें और बढ़ायी जा रही हैं, जिससे अधिक प्रलोभन हो और अधिक रुपये आवें। अधिकांशमें गरीबोंसे आये हुए ४७ करोड़ रुपयोंका यह जुआ क्या उनकी गरीबी तथा दुर्दशाको बढ़ानेवाला नहीं है ? पर कौन सुने ?

'पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्।'

आप मेरी बात मानें तो इन हरामके तथा गरीबोंके रक्त-जैसे पैसोंपर मन चलाकर लाटरीके टिकट मत खरीदिये। शेष भगवत्कृपा।

——::×::——

आध्यात्मिक जगत्में पतन

सम्मान्य महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपने·····तथा ········नामक संस्थाओं तथा उनके संचालकों या गुरुओंकी स्थितिके सम्बन्धमें पूछा, सो इस सम्बन्धमें कुछ कहा नहीं जा सकता। साधनाके क्षेत्रमें कौन किस स्तरपर है, कौन तत्त्व-साक्षात्कारको प्राप्त पुरुष है—यह दूसरा कोई नहीं जानता। इसीलिये कुछ भी कहना अनधिकार चर्चा है। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि प्रत्येक आध्यात्मिक साधनाके मार्गमें दैवी सम्पदाके गुण साधना-प्रासादकी नींवके रूपमें आवश्यक हैं। इसीसे योगमें 'यम-नियम', भक्तिरसमें 'शान्तरस', ज्ञानमें 'साधन-चतुष्टय'—उनमें भी 'षट् सम्पत्ति', कर्ममें मनुकथित 'दस धर्म'—आदि अत्यावश्यक हैं; नहीं तो, बिना नींवके मकानकी भाँति साधन टिक ही नहीं सकता। जिस संस्थामें या जिस महात्मामें ये सब हों और जिनसे ये सब मिलते हों, अपने लिये वे ही निरापद हैं—चमत्कार, सिद्धि पलभरमें ध्यान-समाधि आदि निरापद नहीं हैं, क्योंकि उनमें दम्भ भी हो सकता है। आपका लिखना सत्य है—आजकल ऐसी संस्थाओं, गुरुओं और अवतारोंकी भरमार है, जो शास्त्रोंको बखेड़ा तथा अनावश्यक बताते हैं; अपना अलग मनमाना पन्थ चलाते हैं। वे कहते हैं—

'संयम-नियम, आचार-विचार, संध्या-पूजा, शुद्ध आहार-विहार, त्याग-वैराग्य, स्वाध्याय-जप आदिकी कोई आवश्यकता नहीं। देवता, ऋषि, मुनि आदि कुछ नहीं; राम-कृष्णको मानना बेकार है। कुछ भी करें, कुछ भी खायें-पीयें, कैसा भी आचरण

करें—कोई रोक-टोक नहीं। बस, हमारी बात मानो, हम कहें सो करो। एक हम तथा हमारा सिद्धान्त ही सत्य है और सब मिथ्या है। हम ही अवतार हैं, हमारे ही अनुभव सत्य हैं। हम नवीन मानव, नवीन समाज, नवीन आचार-पद्धतिकी स्थापना करके जगत्का उद्धार करने आये हैं। हम सर्वसमर्थ हैं। हम योग-सिद्ध हैं, हम शक्तिमान् हैं, योगबल तथा शक्तिसे ही सबका कल्याण कर सकते हैं' इत्यादि।

इस प्रकार स्वच्छन्द उपदेश-आदेश देनेवाले तथा वैसे ही आचरण करने-करानेवाले तथा सब प्रकारके आराम-भोगोंका स्वच्छन्द उपभोग करनेवाले यथेच्छाचारी लोगोंकी मानो बाढ़-सी आ गयी है।

इस प्रकारके वातावरणमें सावधान रहनेकी बड़ी आवश्यकता है। बस, दैवी सम्पदा (गीता १६। १—३) की कसौटीपर परखकर चलिये; नहीं तो, धोखा ही होगा। आप धोखा खा चुके हैं, इसलिये औरोंको भी सावधान करते रहिये तथा खण्डन-मण्डनमें न पड़कर चुपचाप सदाचारका सेवन, भगवान्का भजन, शास्त्रोंका—उपनिषद्, श्रीमद्भगवद्गीता, भागवत, रामायण, मनुस्मृति आदिका स्वाध्याय तथा भगवन्नामका जप करते रहिये। गोस्वामी तुलसीदासजी आजके युगके सम्बन्धमें कहते हैं—

मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा॥
मिथ्यारंभ दंभ रत जोई। ता कहुँ संत कहइ सब कोई॥
सोइ सयान जो परधन हारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी॥
निराचार जो श्रुति पथ त्यागी। कलिजुग सोइ ग्यानी सो बिरागी॥

शेष भगवत्कृपा।

——::×::——

अध्यात्मशून्य भौतिक विज्ञानका परिणाम मानवताका नाश

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। भौतिक विज्ञानके क्षेत्रमें मनुष्यने अवश्य ही विलक्षण प्रगति की है और वह निस्संदेह आदरणीय है, पर इस भौतिक विज्ञानसे आध्यात्मिक ज्ञान-विज्ञानपर विषम कुठाराघात हो रहा है। इसीके एक प्रत्यक्ष उदाहरण स्वयं आप हैं, जो शास्त्र, धर्म, अध्यात्म, मुक्ति आदिपर अनास्था-सी प्रकट करते हुए मानवताके गुणोंको भी अनावश्यक-सा बताने लगे हैं। आपमें इतना परिवर्तन भौतिक विज्ञानके पतनकी ओर ले जानेवाली प्रवृत्तिका जीवन्त प्रमाण है। इस भौतिक विज्ञानके साथ जो कामोपभोगपरायण आसुरमस्तिष्क काम कर रहा है, वह जगत्‌में भयानक राग-द्वेष, द्रोह-वैर, हिंसा-हत्या, अभिमान-मद, अत्यन्त सीमित ममता, 'स्व' की अत्यन्त संकुचित सीमा संग्राम-संहार आदि अमानवी-आसुरी-राक्षसी वातावरणका विस्तार करके मानवताका संहार कर रहा है। यह विज्ञान मानव-सेवाका नहीं, मानव-संहारका (मानव-शरीरके ही—मानव-धर्मके संहारका) साधन बन रहा है। यदि इसी प्रकार इस भौतिक आसुरी विज्ञानकी प्रगति होती रही तो मानव-जगत् मानवतारहित—पशुओं, राक्षसों, पिशाचोंसे भी नीची श्रेणीके मानव-जन्तुओंसे भरा मूर्तिमान् नरक बन

जायगा। इसलिये इस विज्ञानके साथ अध्यात्मका संयोग अवश्य रहना चाहिये; वरं अध्यात्मके नियन्त्रणमें, अध्यात्मकी सेवाके लिये ही इस विज्ञानके अस्तित्वका संरक्षण, इसका पोषण और संवर्धन होना चाहिये। आप विद्वान् हैं, बुद्धिमान् हैं, विज्ञानके भी पंडित हैं एवं अध्यात्मकी ओर भी आपकी बड़ी रुचि तथा प्रगति थी—अब भी उसके संस्कार तो बहुत हैं ही—खूब गहराईसे विचार कीजिये और अपने सिद्धान्त तथा कर्तव्यका निश्चय कीजिये। शेष भगवत्कृपा।

——::×::——

भगवान्‌के मङ्गल-विधानमें संतुष्ट रहिये

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपके १४ सालके पुत्रकी मृत्यु हो गयी, इससे आपको अत्यन्त दुःख तथा मानस-पीड़ा होना स्वाभाविक ही है। पर हमलोग देखते हैं, दुनियामें ऐसी घटनाएँ प्रतिदिन होती रहती हैं। जीव कर्मवश जन्म लेता है और कर्मवश मिली हुई अवधि पूरी करके चला जाता है। वास्तवमें यहाँके सभी सम्बन्ध कल्पित हैं। आप बुद्धिमान् हैं, आपको धैर्य रखना चाहिये। भगवान्‌की सत्तापर संदेह करना तो सर्वथा गलत है। भगवान्‌की सत्ता न हो तो कर्मोंका, कर्मफलका नियन्त्रण कौन करे ? हमारे मनकी हो तब तो भगवान् हैं, न हो तो भगवान् नहीं—ऐसा मानना अज्ञान है। भगवान् सर्वज्ञ हैं, सर्वलोकमाहेश्वर हैं; वे बहुत दूरतक आत्माका यथार्थ कल्याण समझकर विधान करते हैं। हमारी दृष्टि सीमित है—इसलिये हम उतनी दूरकी सोच ही नहीं सकते। छोटे बालकका ऑपरेशन हो, वह दूर-दृष्टि न होनेसे अङ्ग कटना समझकर दुःखी होता है। दूर-दृष्टिवाले हमलोग ऑपरेशनके कष्टकी परवाह न करके आगे होनेवाली नीरोगताको देखते हैं। देह छूटनेसे ही आत्माका अमङ्गल नहीं होता; आत्मा तो देहपातके बाद भी रहता है। यदि इस देहके पातमें उसका मङ्गल है तो भगवान् वही करते हैं। अतएव आपको दुःखी नहीं होना चाहिये और भगवान्‌के मङ्गल-विधानमें विश्वास करके संतुष्ट रहना चाहिये। शेष भगवत्कृपा।

——::×::——

सबमें एक ही भगवान् हैं

प्रिय भाई ! सप्रेम हरिस्मरण। तुम्हारा पत्र मिला। यह सत्य है कि हिंदू-सनातन-धर्ममें अनन्त देवताओंकी पूजा है, उनके भिन्न-भिन्न नाम, रूप तथा पूजा-पद्धति हैं, पर ध्यानसे देखोगे तो पता लगेगा कि हिंदूधर्म 'बहुदेववादी' नहीं है। एक ही परम सत्य परम तत्त्वके, जो ब्रह्म, परमात्मा, भगवान् आदि अनेक नामोंसे पुकारा जाता है—

'ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।'

(भागवत २।१०।७)

ये असंख्य विधि लीलारूप हैं। हिंदूधर्मके विभिन्न ईश्वर या देवताओंके स्वरूप ही नहीं—ईसाई, मुसलमान, पारसी आदि जगत्के सभी आस्तिक धर्मों, सम्प्रदायोंका आराध्य-उपास्य तत्त्व उस एक ही सत्य परम तत्त्वकी अभिव्यक्ति है। इस प्रकार हिंदूधर्मके परम तत्त्वको समझनेवाले पुरुषका किसीके साथ भी विरोध नहीं है। विभिन्न पूजन-पद्धतियों, विभिन्न आचार-विचारों तथा साधन-प्रणालियों—सभीको वह अपने इष्टदेवकी अभिव्यक्ति तथा उन्हींकी पूजा मानता है। वह किसीका विरोध नहीं करता और अपने इष्टदेव तथा साधन-प्रणालीको छोड़ता नहीं। सबमें अपने ही भगवान्‌को समझकर वह सदा सबके हित-सुखकी बात सोचता है, सदा सबका सुख-हित-सम्पादन करता है।

गोस्वामीजीने कहा है—

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥
जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।
बंदउँ सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि॥
सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥
सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

श्रीमद्भागवत (११।२।४१) में कहा है—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमाद्रीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत् किंच भूतं प्रणमेदनन्यः॥

इसीलिये हमारा नारा है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

शेष भगवत्कृपा।

——::×::——

प्रत्येक व्यवस्थामें भगवान्‌का वरदहस्त

प्रिय भाई ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। भगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्‌गीतामें इस लोक अथवा भोग-जगत्‌के सम्बन्धमें तीन शब्दोंका प्रयोग किया है—'असुख', 'दुःखालय' एवं 'दुःखयोनि'—'यहाँ वास्तविक सुख है ही नहीं, यह दुःखका आलय है और दुःखोंकी उत्पत्तिका क्षेत्र है।' ऐसे भोग-जगत्‌में हम सुख ढूँढ़ रहे हैं और जैसे तपती हुई बालूकी लहरोंपर सूर्यकी किरणें पड़नेसे प्यासे हरिणको जलका भ्रम हो जाता है, उसी प्रकार हमें भी भोगोंमें सुख दिखायी देता है। पर जैसे हरिण वहाँ पहुँचनेपर विशेष संतापके सिवा और कुछ नहीं पाता, उसी प्रकार जगत्‌के अनुकूल भोगोंके प्राप्त होनेपर दूरसे दिखायी देनेवाले सुख नष्ट हो जाते हैं और कुछ ही समय बाद विशेष संतापकी अनुभूति होती है। भगवान्‌ने इसीलिये कहा—'सुख चाहते हो तो **मां भजस्व**—मुझे भजो।' सुखरूप एकमात्र भगवान् हैं; भगवान्‌से रहित जगत् सर्वत्र दुःखमय है; वास्तवमें साधकोंकी दृष्टिसे ये दुःख भी भगवान्‌के ही प्रसाद हैं। कर्म-जगत्‌की व्यवस्थाके अनुसार दुःख बुरे कर्मका फल है। अतएव दुःखमें उस बुरे कर्मका नाश होता है, दुःखमें भगवान्‌की स्मृति होती है, दुःखसे मनुष्यके मनमें वैराग्य होता है और दुःख भगवान्‌की ओर बढ़नेमें सहायता करता है। श्रीमद्भागवतमें कुन्तीदेवीने अपने सगे

भतीजे सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्णसे वरदान माँगा था कि 'आप हमलोगोंको बार-बार विपत्ति दिया करें। बार-बार विपत्तिसे स्मृतिरूपसे आप मिलते हैं और आपका मिलना मोक्षदायक होता है'—

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥

(१।८।२५)

अतएव आपपर जो विपत्ति आयी है, जागतिक दृष्टिसे अवश्य ही वह सर्वथा अवाञ्छनीय है, पर भगवान्का मङ्गलमय-विधान कभी अमङ्गलकारी हो ही नहीं सकता। छोटे बच्चेके किसी अङ्गका ऑपरेशन होनेपर वह उसे अङ्गका कटना समझकर रोता है। ऑपरेशन करनेवाले सर्जनके मनमें उसके रोगनाशका उद्देश्य है और वह उसके हितके लिये ही ऑपरेशन करता है। घरवाले, जो समझदार हैं, वे भी ऑपरेशनको दुःख नहीं मानते, सुख मानते हैं; वे सोचते हैं कि रोगका नाश हो रहा है; किंतु यहाँके सर्जनसे भूल हो सकती है, उसके उद्देश्यमें भी प्रमाद हो सकता है; पर सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ हमारे परम सुहृद् भगवान् हमारे लिये जो मङ्गल-विधान करते हैं, वह चाहे दुःख हो, दारिद्र्य हो, रोग हो या मृत्यु हो, अवश्य ही हमारे आत्माके लिये वह कल्याणकारी होता है। इसमें हमें विश्वास रखना चाहिये और यही सत्य है।

आप भगवान्पर विश्वास करते हैं, इसीलिये मैं ऐसा लिख गया, नहीं तो किसी विपत्तिमें पड़े हुए आदमीको उसके साथ सहानुभूतिपूर्ण रोने-कलपनेकी बात ही लिखी जाती है, हालाँकि वह वास्तवमें है धोखा ही। आप इस सत्यको पहचानिये और

भगवान्‌के प्रत्येक मङ्गल-विधानमें उनका कृपापूर्ण वरदहस्त देखकर प्रसन्न होते रहिये। आत्मामें न किसी वस्तुका ग्रहण है न त्याग, न संयोग है न वियोग, न मान है न अपमान, न नीरोगता है न रोग, न जन्म है न मृत्यु। इसमें मोहित होना और इसके सम्पर्कमें आकर दुःखी-सुखी होना वास्तवमें अज्ञान है। जगत् तो द्वन्द्वात्मक ही है। यह द्वन्द्व जगत्‌से कभी नहीं मिट सकता, क्योंकि द्वन्द्वोंको लेकर ही जगत् है। सारे द्वन्द्वोंमें समान भावसे भरे हुए एक भगवान् हैं; वे ही परम सत्य हैं। केवल उन्हींसे सम्बन्ध रखकर हर अवस्थामें प्रसन्न रहना चाहिये। शेष भगवत्कृपा।

——::×::——

भगवत्कृपा किसपर है ?

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। भगवान्‌की कृपा सदा-सर्वत्र सबके लिये अनन्त है। जो जितना विश्वास करता है, उसको उतनी ही कृपाकी विशेष अनुभूति होती है। जिनके पास संसारके सुखैश्वर्य या भोगसामग्री अधिक है, उनपर भगवान्‌की विशेष कृपा है, ऐसी बात बिलकुल नहीं है। कृपाका माप-तौल संसारके भोगपदार्थोंके अधिक होने या सर्वथा न होनेपर नहीं किया जा सकता; संसारके भोगोंकी प्राप्ति-अप्राप्ति या संसारके सुख-दुःख पूर्वकृत कर्मके फलस्वरूप प्रारब्धानुसार हुआ करते हैं। एक बड़ा संत प्रारब्धवश सांसारिक भोग-दृष्टिसे अत्यन्त अभावग्रस्त रह सकता है और वर्तमानका एक महापापी राक्षस पदाधिकार-भोग-सुख-सम्पन्न हो सकता है। भगवत्कृपाका यथार्थ अनुभव होनेपर जीवन भगवान्‌के अनुगत होता है; उसमें भोग-तृष्णा क्रमशः क्षीण होकर सर्वथा नष्ट हो जाती है; वह प्रत्येक स्थितिमें भगवान्‌की मङ्गलमयी कृपाके दर्शन कर क्षोभ-रहित, शान्तचित्त और प्रसन्न रहता है। इस दृष्टिसे भगवत्कृपा-प्राप्त संत सदा परम शान्ति-सुखका अनुभव करते हैं और बड़े-बड़े धनी अधिकारी भोगासक्त पुरुष सदा अशान्ति तथा दुःख-भोग करते हैं। आपने जिनके सम्बन्धमें लिखा है, वे अवश्य ही बाहरसे देखनेपर बहुत सुखी—सम्पन्न दिखायी देते हैं, पर कौन जानता है कि उनके अन्तरमें सदा-सर्वदा अशान्तिकी विशाल भट्ठी नहीं जल रही है ! यह निश्चित ही है कि जहाँ कामना है, वहाँ अंदरकी ज्वाला कभी

शान्त नहीं होती—यदि उन्हें अधिक भोग-सामग्री मिलती है तो उनकी कामनाकी अग्नि और भी बढ़ती है—

'बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ बिषय भोग बहु घी तें।'

अग्निमें ज्यों-ज्यों ईंधन तथा घृतकी आहुति पड़ती है, त्यों-ही-त्यों अग्नि भड़कती है और उतना ही अधिक संताप बढ़ता है। अतएव उनको भगवत्कृपाका अनुभव कहाँ है! भगवत्कृपाका अनुभव ही भगवत्कृपा है। अतएव आपकी यह धारणा गलत है कि जो इस समय धन-सम्पत्ति-सम्पन्न हैं, उनपर भगवान्‌की विशेष कृपा रहती है। यों सामान्यरूपसे तो सभीपर सदा भगवत्कृपा रहती ही है। नरकके प्राणियोंको भी भगवान्‌की कृपा नरक-यन्त्रणा भुगताकर उन्हें कर्मबन्धनसे मुक्त करनेमें लगी रहती है। पर आप भगवत्कृपा उन्हींपर समझिये, जो भोगासक्त न होकर भगवद्भक्त हैं; जगत्‌के माया-ममता-मोहसे क्रमशः मुक्त होते हुए भगवान्‌के चरणोंकी प्रीतिके बंधनमें बँधते जाते हैं; जिनका चित्त शान्त है; जिनकी इन्द्रियाँ भगवत्सेवामें लगी हैं और जिनका जीवन भगवान्‌के समर्पित हो गया है या होने जा रहा है। शेष भगवत्कृपा।

——::×::——

चार प्रकारके मनुष्य

प्रिय श्री······सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। संसारमें चार प्रकारके मनुष्य हैं—(१) पामर, (२) विषयी, (३) साधक (जिज्ञासु या मुमुक्षु) और (४) सिद्ध, (मुक्त या भगवत्प्राप्त)।

(१) पामर वे हैं—जो घोर विषयासक्त हैं; किसी भी प्रकारसे इच्छित भोगोंको प्राप्त करना और भोगना—ऐसी कामोपभोग-परायणता ही जिनके जीवनका स्वरूप है; काम-क्रोध-लोभादि जिनके स्वभावगत हैं; ऐसे विवेकरहित आसुरी सम्पदावाले तमोगुणप्रधान मनुष्य जो नये-नये दुष्कर्मोंमें ही जीवन खो देते हैं। इनका मनुष्य-जन्म अनर्थोत्पादक ही होता है और मरनेके बाद ये आसुरी योनियाँ, नरक-यन्त्रणा और मानव-जीवन मिलनेपर भी प्रायः दुःख ही भोगते हैं।

(२) विषयी वे हैं, जिनका जीवन भोगोन्मुख है, पर जिनमें कुछ विवेक है। ऐसे लोग देवाराधन, पूजा-पाठ, तीर्थ-व्रत, दान-भजन आदि सत्कार्य भी करते हैं और भरसक विवेकपूर्वक प्राप्त वैध भोगोंका ही सेवन करते हैं; पर इनके सारे सत्कार्योंका, भक्ति-उपासना आदिका भी उद्देश्य होता है—भोग-प्राप्ति ही; अतएव ये रजोगुणप्रधान मानव-जीवनके असली लक्ष्य आत्मकल्याणका साधन नहीं करते। इनका मानव-जीवन भी व्यर्थ ही जाता है। दुर्लभ मानव-जीवनके लाभसे ये वञ्चित ही रह जाते हैं।

(३) साधक या मुमुक्षु अथवा जिज्ञासु वे हैं; जिनमें सत्त्वगुणकी प्रधानता होती है। ये मनुष्य-जीवनके असली उद्देश्यको जानकर उसीकी प्राप्तिके साधनमें लगे रहते हैं। इनमें भी मन्द और तीव्र प्रयत्न करनेवाले लोग होते हैं, पर इनके जीवनका उद्देश्य मोक्ष या भगवत्प्राप्ति होनेसे इनका जीवन सफल हो जाता है। कदाचित् इस जन्ममें कोई त्रुटि रह जाती है तो अगले मनुष्य-जीवनमें ये पूर्वाभ्यासवश साधन-मार्गमें अग्रसर होकर जीवनका लक्ष्य प्राप्त कर लेते हैं। ये ही 'योगभ्रष्ट' कहलाते हैं। इनमें ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग, अष्टाङ्गयोग, निष्काम कर्मयोग आदि विभिन्न मार्गोंके साधक रहते हैं, पर उनकी रुचि तथा स्वभावमें अन्तर होनेपर भी वे सब दैवी सम्पदा-सम्पन्न होते हैं। इनका स्वभाव तथा व्यवहार-बर्ताव विषयी पुरुषोंसे विपरीत होता है। विषयी पुरुषोंसे जिन धन, मान, पद, अधिकार, इन्द्रिय-भोग आदिकी आसक्तिपूर्वक कामना करते हैं, ये उन सबका त्याग करके उसके विपरीत आचरण करते हैं। इनमें—खास करके भक्तिमार्गवालोंमें एक बड़ी बात होती है—इनका आदर्श दैन्य। यह दैन्य हीन भावना नहीं है; यह दैन्य सर्वत्र भगवद्दर्शन तथा देहाभिमानशून्यताके कारण होता है। श्रीमद्भागवतमें भगवान्ने उद्धवसे कहा है—'जब निरन्तर नर-नारीमात्रमें मेरी (भगवान्की) भावना की जाती है, तब थोड़े ही दिनोंमें साधकके चित्तसे स्पर्धा, ईर्ष्या, तिरस्कार और अहंकार आदि दोष नष्ट हो जाते हैं। अपने ही लोग चाहे हँसी करें; उनकी परवाह न करके देह-दृष्टि तथा लोक-लज्जाको छोड़कर चाण्डाल, गौ, कुत्ते और गधेको भी पृथ्वीपर गिरकर साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करे।' (स्क० ११। २९। १५-१६)

श्रीचैतन्य महाप्रभुको, जब वे गृहस्थमें 'निमाई पण्डित' के नामसे प्रसिद्ध थे, गङ्गा-स्नान करने जाते समय रास्तेमें सहसा एक ब्राह्मण महिलाने हाथ जोड़कर उनकी चरण-धूलि लेकर यह कह दिया कि 'निमाई ! तुम भगवान् हो, मेरा उद्धार कर दो।' बस, अपने लिये एक सम्माननीया ब्राह्मणीके द्वारा 'भगवान्' शब्द सुनते ही इनको इतना दुःख हुआ कि ये प्राणत्यागके संकल्पसे दौड़कर गङ्गाजीमें कूद पड़े। बड़ी कठिनतासे निकाले गये। निकालनेपर भी अपनेको बड़ा अपराधी मानकर कई दिनोंतक रोते रहे। भक्त साधकमें कितनी दीनता होनी चाहिये, इसकी सजीव शिक्षा इससे मिलती है। इसीसे कहा है—'सम्मानको घोर हलाहल विष और नीचापमानको अमृत समझे।' साधकमें इतना दैन्य होना चाहिये। इसी प्रकार अन्यान्य भोगोंसे भी विरक्ति होनी चाहिये। ऐसा साधक या मुमुक्षु अपने भावानुसार भगवत्प्रेम या कैवल्य-मोक्षको प्राप्त होता है।

(४) सिद्ध या मुक्त—भगवत्प्राप्त वे हैं, जो मानव-जीवनके परम तथा चरम लक्ष्य तत्त्वज्ञानको या भगवान्‌को प्राप्त कर तद्रूप हो चुके हैं। इन सिद्ध पुरुषोंका स्वभाव सहज समतायुक्त है। मान-अपमान,स्तुति-निन्दा, प्रिय-अप्रिय, शुभ-अशुभ, मित्र-शत्रु, जीवन-मृत्यु सभीमें इनका समभाव रहता है। वास्तवमें इनकी अनुभूतिमें एक ब्रह्म, परमात्मा या भगवान्‌के सिवा अन्य कुछ भी रहता ही नहीं। यह अनुभूति भी कथनमात्र ही है—ये तो भगवत्स्वरूप ही होते हैं। तथापि इनके आचरण-व्यवहार-बर्ताव साधक-जीवनके अभ्यासानुसार सर्वथा विरक्तिपूर्ण तथा आदर्श कर्मनिष्ठायुक्त होते हैं। पर इनकी प्रत्येक चेष्टा होती है, परम आदर्श तथा सहज लोक-कल्याणकारिणी।

आपके प्रश्नका यह संक्षिप्त उत्तर है। हमलोगोंको चाहिये कि हम 'साधकका जीवन' अपने लिये आदर्श मानकर अपने-अपने साधन-मार्गपर निष्ठा तथा श्रद्धा-विश्वासके साथ दैवी सम्पदाके गुणोंका अपनेमें अधिकाधिक विकास करते हुए अग्रसर होते रहें। शेष भगवत्कृपा।

——::×::——

आपपर बड़ी भगवत्कृपा है

प्रिय बहन ! सस्नेह हरिस्मरण।

आपका पत्र मिला था। पढ़कर बड़ी प्रसन्नता हुई। आपपर भगवत्कृपा तो प्रत्यक्ष है ही, पूर्वजन्मके शुभ संस्कार भी हैं, तभी आपके इतने कल्याणमय शुभ विचार हैं। आपकी सिनेमासे सख्त घृणा है और आप किसी भी गंदे साहित्यका स्पर्श भी नहीं करतीं, यह आजके युगमें बहुत बड़े सौभाग्यकी बात है। सबसे बड़ी चीज तो है—'एक क्षणके लिये भी प्रभुको न भूलनेकी इच्छा और भगवान्‌में निरन्तर मनकी संलग्नता और भगवान्‌की लीलाभूमिके प्रति मनका इतना आकर्षण।' आपका घरमें मन नहीं लगता, किसी भी कामको करनेकी इच्छा नहीं होती; सो मन तो भगवान्‌में ही लगना चाहिये, पर घरसे बाहर जानेकी इच्छा नहीं होनी चाहिये। घर साधनके लिये जितना सुरक्षित है, उतना बाहरी स्थान नहीं। आजकल सभी जगह वातावरण प्रायः खराब है। घरका काम—भगवान्‌की पूजाके भावसे करना चाहिये। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

'तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥'

—अपने जिम्मेके कर्मका भलीभाँति आचरण करो, पर कहीं भी कर्म या कर्मफलमें आसक्ति न हो। नाटकमें—अभिनयकी तरह—'खेल ठीक हो, पर कहीं भी राग-द्वेष,

ममता-मोह न हो और कर्म करो यज्ञार्थ—भगवान्‌की सेवाके लिये।' इस प्रकार भगवान्‌में प्रीति रखते हुए अनासक्तभावसे संसारमें वैध तथा प्राप्त कर्मोंका भगवत्सेवार्थ भगवत्स्मरण करते हुए ही सुचारुरूपसे सम्पादन करना चाहिये।

आपका मन भगवान्‌में विशेषरूपसे विशुद्ध प्रेमभावसे लगा रहे और प्रेम उत्तरोत्तर बढ़ता रहे—यह श्रीभगवान्‌से प्रार्थना है। शेष भगवत्कृपा।

——::×::——

प्रायश्चित्त

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपके द्वारा क्रोधावेशमें एक बार माताजीपर हाथ उठाया गया तथा उन्हें कठोर वचन भी कहे गये, सो यह निश्चय ही बहुत बुरा हुआ। पर आपको इससे इस समय घोर पश्चात्ताप हो रहा है, यह आपके लिखे शब्दोंसे प्रत्यक्ष प्रकट है। अपराध तो बन ही गया, वह अब वापस हो नहीं सकता। आपने माताजीसे क्षमा-प्रार्थना कर ली और जीवनमें फिर कभी ऐसा न करनेका निश्चय कर लिया, सो बहुत अच्छा किया। अब भी आपको इस अपराधके कारण जो भीषण जलन हो रही है और आप अपने जन्म तथा अस्तित्वको जिस तरह धिक्कार रहे हैं तथा बुरे-से-बुरा फल भोगनेको प्रस्तुत हैं, इसके सिवा और आप क्या कर सकते हैं? सच्चे हृदयका पश्चात्ताप, दीनभावसे अनन्य विश्वासयुक्त भगवान्‌की शरणागति समस्त पापोंका समूल नाश करनेवाली है। आपने गीताके जो तीन श्लोक लिखे हैं, इन्हींके अनुसार भगवत्कैंकर्यका जीवन बिताइये। भगवान्‌की कृपासे आप पाप-तापसे मुक्त हो जायँगे। निरन्तर भगवान्‌के स्मरणका अभ्यास करते हुए जीवनमें दैन्यभावका अवलम्बन करके सत्कर्मोंमें लगे रहिये। माताजी हों तो अत्यन्त दीन होकर उनकी सब प्रकारसे यथासाध्य अधिक-से-अधिक सेवा कीजिये। शेष भगवत्कृपा।

——::×::——

मैं भगवदिच्छासे ही 'गोरक्षा-महाभियान-समिति' में सम्मिलित हुआ

सम्मान्य महोदय ! सादर प्रणाम। आपका आवश्यक और मेरे हितकी दृष्टिसे लिखा आत्मीयतापूर्ण पत्र मिला। आपकी इस सद्भावना और प्रीतिके लिये कृतज्ञ हूँ। आपके प्रश्न तो बहुत लम्बे हैं। अतः प्रश्न न लिखकर संक्षेपमें उत्तर लिख दे रहा हूँ, क्षमा कीजियेगा। मैं नहीं जानता कि मेरे इन उत्तरोंसे आपको संतोष होगा या नहीं, पर मैं अपने मनकी बात इस पत्रके द्वारा किसी अंशमें प्रकट कर सकूँगा।

मेरा किसी भी राजनीतिक दलसे कोई सम्बन्ध नहीं है। चुनावमें मैं स्वयं तो खड़ा होता ही नहीं, किसीका समर्थन-विरोध भी नहीं करता। अवश्य ही यह चाहता हूँ और आप भी यह चाहते होंगे कि योग्य-से-योग्य, सच्चे, ईमानदार, विचारशील, बुद्धिमान् और कर्तव्यपरायण तथा ईश्वरसे डरनेवाले लोग संसद् और विधानपरिषद् आदिमें जायँ, चाहे वे किसी भी दलके हों या निर्दलीय—स्वतन्त्र हों, जिससे देशको न्याय और सत्यकी उपलब्धि हो सके और देश वास्तवमें ही विनाशसे बचे।

वर्षोंसे मेरा राजनीतिसे कोई सम्बन्ध नहीं है, यद्यपि मैं हिन्दू-धर्मके अनुसार हिंदू-राजनीतिको धर्मसे रहित नहीं मानता। हमारे यहाँ तो मूत्र-पुरीषोत्सर्गतक धर्मके अन्तर्गत है। गर्भाधानसे लेकर अन्त्येष्टितक और मृत्युके बाद भी हमारी प्रत्येक क्रिया और

प्रत्येक विचारका धर्मसे सम्बन्ध है। धर्महीन राजनीति तो असुरोंकी होती है। राजनीतिसे अलग रहनेका मेरा अर्थ इतना ही है कि मैं वर्तमान किसी भी 'पोलिटिकल पार्टी' से कोई सम्बन्ध नहीं रखता।

मेरा किसी भी राजनीतिक दलसे राजनीतिके नाते कोई सम्बन्ध नहीं है। यों सभी अपने हैं। मुझसे प्रेम करनेवाले मित्रोंमें कांग्रेसी भी हैं, जनसंघी, हिंदूमहासभाई, रामराज्य-परिषदी तथा स्वतन्त्र दलके भी हैं एवं समाजवादी, प्रजा-समाजवादी, साम्यवादी और विप्लववादी भी हैं। वे सभी मुझे अपना समझते हैं।

यदि देश और विश्वको जल्दी ही प्रलयका शिकार नहीं होना है तो गोहत्या बंद होगी ही। और सारे विश्वमें जहाँ-जहाँ गोहत्या होती है, बंद होनी चाहिये। इस आन्दोलनके फलस्वरूप भी गोहत्या बंद होनी चाहिये, क्योंकि यह विश्वकी रक्षाके लिये आवश्यक है। परंतु मुझे इस आन्दोलनके फलकी कोई चिन्ता नहीं है, न उसमें आसक्ति है। भगवान् जब जिस प्रकारकी बुद्धि दें, किसीका भी बुरा न चाहते हुए भगवत्पूजाके भावसे सावधानीके साथ उस बुद्धिके अनुसार कार्य करना चाहिये। न तो कार्यके पूर्ण होनेमें आसक्ति होनी चाहिये और न कार्यके अनुकूल फलमें आसक्ति होनी चाहिये। घरमें आग न लगे, सावधानी रखनी चाहिये; आग लग जाय तो बुझानेका प्रयत्न करना चाहिये। बस, अपना काम हो गया। घर जलना होगा तो जलेगा ही, इसके लिये चिन्ताकी आवश्यकता नहीं।

असलमें साधक-मनुष्यको कर्मासक्ति तथा कर्म-फलासक्ति

न रखते हुए जैसे नाट्य-मञ्चपर कुशल अभिनेता अपने स्वाँगके अनुसार अपना अभिनय नाटकके स्वामीकी प्रसन्नताके लिये कुशलताके साथ करता है, वैसे ही—भगवत्प्रीत्यर्थ अपने कर्तव्यका सम्पादन करना चाहिये।

मुसल्मान-ईसाइयोंसे मेरा तनिक भी द्वेष नहीं है। कई मुसल्मान भाई-बहिन ऐसे हैं, जो मुझे अपने सगे भाईसे बढ़कर प्यार करते हैं। बहुत-से ईसाई मेरे मित्र हैं। वस्तुतः मनुष्य ही नहीं, चेतन पशु-पक्षी-तिर्यक् जीव ही नहीं—जड पृथ्वी, जल-अग्नि-वायु-आकाश, समुद्र-नदी, वृक्ष-लता, गिरि-पर्वत, दिशा-विदिशा सभीको मैं भगवत्स्वरूप मानना और देखना चाहता हूँ।

आप आध्यात्मिक दृष्टिसे पूछ रहे हैं, इसलिये मैं भी चेष्टा करता हूँ कि उसी दृष्टिसे उत्तर लिखूँ। भगवान्‌की दृष्टिसे चराचर अनन्त विश्व केवल भगवान्‌की ही अभिव्यक्ति है। जड, चेतन सभीके रूपमें भगवान् प्रकट हैं। सबमें भगवान्‌का दर्शन करते हुए यथायोग्य अपने कर्मके द्वारा भगवान्‌की पूजा करनी चाहिये और पूजा करनेवाले तथा पूज्यमें भी कोई भेद नहीं रहना चाहिये। भक्तकी दृष्टिसे इतना भेद अवश्य रहेगा कि भक्त पूजा करनेवाला है और अखिल विश्वके रूपमें भगवान् उसके पूज्य हैं। किसीसे वैर-विरोध और द्रोह-हिंसाका तो कोई प्रश्न ही नहीं। पूजामें त्रुटि न आने पाये, यह ध्यान अवश्य रहेगा।

आत्माकी दृष्टिसे सब आत्मा है। जैसे एक ही शरीरके सारे अंग—पैरसे लेकर मस्तकतक सब हमी हैं। कहीं भी चोट लगे, हमें लगती है, उसी प्रकार समष्टि आत्मा ही अभीष्ट जगत् है। इस

अवस्थामें किसीका बुरा चाहना और करना बन ही नहीं सकता।

सत्य है, मुझे एकान्त अच्छा लगता है। मैं प्रतिदिन अधिक-से-अधिक समय दरवाजा बंद किये अकेला रहता हूँ। मैं अकेलेमें क्या करता हूँ—इसे तो भगवान् ही जानते हैं। चेष्टा करता हूँ कि लोकालयमें भी ठीक वैसा ही अनुभव करूँ, पर कर नहीं पाता, यह मेरी कमजोरी है।

ब्रह्माजीने भगवान् श्रीकृष्णका स्तवन करते हुए कहा—

तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः॥

(श्रीमद्भागवत १०। १४। ३६)

'श्रीकृष्ण! जबतक मनुष्य तुम्हारा जन नहीं हो जाता, तभीतक राग-द्वेष आदि चोर उसके पीछे लगे रहते हैं, तभीतक घर कैदखाना बना रहता है और तभीतक पैरमें मोहकी बेड़ियाँ जकड़ी रहती हैं।' अतएव मेरे लिये कारागार और घरमें कोई अन्तर नहीं है। मुझे न जेल जानेकी इच्छा है, न जेलका डर है, न मैं ऐसा कोई दूषित कर्म करना चाहता हूँ, जिससे जेल जाना पड़े। सत्कर्म करते शरीरको जेलमें रहना पड़े तो कोई आपत्ति भी नहीं है; मैं उससे बचना भी नहीं चाहता। मोह-ममता है तो घर भी जेलखाना है; द्वन्द्व-समता है तो कहीं भी बन्धन नहीं है। सदा सर्वत्र भगवान् हैं और सबका सदा सर्वत्र भगवान्में निवास है।

इस आन्दोलनमें सम्मिलित होनेके कारणोंमें प्रधान कारण तो है भगवदिच्छा। मैंने स्वयं इच्छा भी नहीं की थी और प्रयत्न भी नहीं किया, अनायास ही इस प्रकारके कारण बनते गये कि मैं इसमें सम्मिलित हो गया और अब इसमें सम्मिलित होना मुझे

कर्तव्य भी जान पड़ता है। अनशनकी बात मैंने किसीसे कही नहीं, पर जिन महात्माओंका इसमें सात्त्विक विश्वास है, उनको रोकनेवाला मैं कौन होता हूँ? मैंने किसीको रोका भी नहीं। अपने यहाँ लोकोपकारार्थ प्राण-दान करनेका, सर्वस्व-त्यागका विधान है और वह परम पवित्र है। वह आत्महत्या नहीं, तपस्या है और यथाधिकार कर्तव्य है। पर मैं वृद्ध, शरीरसे अस्वस्थ—मैंने अनशनका न कभी विचार किया और न अब भी मेरा विचार है।

यह बात लोग कह सकते हैं और लोगोंके द्वारा कही भी गयी है कि प्रदर्शनकारी लोग गायको बचानेका नाम लेकर गये थे और उन्होंने मनुष्योंकी हत्या करवा दी। मनुष्योंकी हत्याएँ हुईं, यह सत्य है। प्रत्येक वस्तुको आदमी अपनी-अपनी आँखसे देखते हैं; पर भ्रम भी होता है। यह भ्रम ही तो है कि हमलोग भगवद्रूप जगत्को भगवान्से भिन्न मान रहे हैं। इतना बड़ा भ्रम जब रह सकता है, तब प्रदर्शनकारियोंको मनुष्योंकी हत्या करनेमें कारण समझनेका भ्रम होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं; पर सत्य कुछ और ही है। मैं स्वयं ७ तारीखके प्रदर्शनमें था। मैंने देखा है, सुना है, समझा है और उसके आधारपर निर्भ्रान्त रूपसे कह सकता हूँ कि 'मनुष्योंकी हत्या करनेका आरोप प्रदर्शनके संचालकोंपर लगाना मिथ्या तो है ही, सर्वथा पाप है'। मनुष्योंकी हत्या हुई, कुछ मकानोंके अंश भी जले और टूटे-फूटे, कुछ मोटरें भी जलीं, पर यह काम किसके द्वारा हुआ, इसको वास्तवमें भगवान् ही जानते हैं। पर हुआ यह उन्हीं आसुरी सम्पदाके आश्रयी दुष्कृत लोगोंके द्वारा, उन्हीं मूर्खोंके द्वारा, जो अपना भविष्य नहीं सोचते और दूसरोंके अमङ्गलमें ही जिनको सुख मिलता है। वे कोई हों,

भगवान् उनको सुबुद्धि दें; उनपर दया करें !

आपके कई प्रश्न मैं छोड़ देता हूँ। अन्तिम प्रश्नका उत्तर यह है कि मेरी समझसे इस हिंसा-काण्डको लेकर आन्दोलनके बंद करनेका कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इस आन्दोलनके संचालक विशुद्ध शान्ति और अहिंसाको चाहनेवाले रहें; अहिंसा, प्रेम, शान्ति और आत्मभावनाको और भी बढ़ावें, सबका मङ्गल चाहें, सबका मङ्गल करें और समस्त देशवासियोंका आवाहन करें कि लोग मनसे, तनसे, धनसे—जो जिस योग्य हों—इस महान् पुण्यकार्यमें योग दें। भगवान् हमारे वर्तमान शासकोंको भी सुबुद्धि प्रदान करें, जिससे उनके अन्दर भी सौहार्द प्रकट हो, वे करोड़ों देशवासियोंकी अन्तर्व्यथा समझकर उसे मिटानेके लिये शीघ्र-से-शीघ्र सम्पूर्ण गोवंशकी हत्याको कानूनन बंद कर दें। आवश्यक हो तो विधानमें भी संशोधन किया जाय। साथ ही गो-पालन और गो-संवर्धनकी व्यवस्था भी की जाय। भगवान्की कृपा, भगवान्के मङ्गल-विधान, सबमें एक भगवान् विद्यमान हैं—इस बातपर विश्वास रखते हुए जबतक गोहत्या सम्पूर्णतया बंद न हो, शान्तिपूर्ण वैध साधनोंके द्वारा आन्दोलनका क्रम जारी रहना चाहिये और समस्त देशमें इसका विस्तार होना चाहिये। शेष भगवत्कृपा।

——::×::——

'गोरक्षा-महाभियान-समिति' में मैं क्यों सम्मिलित हुआ ?

सम्मान्य महोदय ! सादर प्रणाम।

आपका अत्यन्त सौजन्य तथा स्नेहसे पूर्ण दूसरा लम्बा पत्र मिला। आपकी अयाचित स्नेहभावनाके सामने मैं नतमस्तक हूँ। आपके कुछ प्रश्नोंका संक्षिप्त उत्तर नीचे लिख रहा हूँ।

साधनाकी बात लिखने-कहनेकी नहीं हुआ करती; यह तो अपने व्यक्तिगत जीवनका परम गोपनीय रहस्य है। फिर आपने तो बड़े विस्तारके साथ एक-एक बातका स्पष्ट उत्तर चाहा है। आप क्षमा करेंगे, मैं सबका उत्तर लिखनेमें असमर्थ हूँ। पर आपने बहुत स्नेहपूर्ण आग्रह किया है—इसलिए मैं क्या चाहता था, इसे संकेतसे लिख रहा हूँ। वास्तविक स्थिति कैसी-क्या है—इस सम्बन्धमें कुछ भी कहना नहीं बनता। यह अनुभवकी वस्तु है, वाणीका विषय नहीं। लिखने-कहनेमें न्यूनाधिकता आ जाती है और अनुभवकी ऊँची-नीची स्थितिका वर्णन करनेके लिये शब्दोंका अभाव होनेसे लिखना सम्भव भी नहीं है; और इष्ट तो है ही नहीं—

हुआ समर्पण प्रभुचरणोंमें, जो कुछ था सब 'मैं' 'मेरा'।
अग-जगसे उठ गया सदाको 'चिर-संचित सारा डेरा'॥
मेरी सारी 'ममता' का अब रहा 'एक प्रभुसे सम्बन्ध'।
'प्रीति', 'प्रतीति','सगाई'—सब ही मिटी, खुल गये सारे 'बन्ध'॥

'प्रेम' उन्हींमें, 'भाव' उन्हींका, उनहींमें 'सारा संसार'।
उनके सिवा शेष कोई भी बचा न, जिससे हो 'व्यवहार'॥

इस स्थितिमें चराचर जगत्‌का सभी कुछ मेरे लिये भगवान्‌का स्वरूप है और जगत्‌में जो कुछ हो रहा है—सब उन्हीं लीलामय भगवान्‌की लीला है। 'लीला' और 'लीलामय' अभिन्न हैं। अतएव जो कुछ भी किया जाता है, वह किया नहीं जाता, होता है और होता है उन्हींका कराया—उन्हींके मङ्गलमय संकल्पके अनुसार। उनका संकल्प भी उनसे अभिन्न ही है। इसलिये किसीसे भी वैर या द्वेषका तो कोई प्रश्न ही नहीं। ऐसा लगता है कि मनके गुप्त अन्तस्तलमें शायद कुछ और छिपा हो! उसे अन्तर्यामी ही जानते हैं।

आपके कृपापत्रके पहले लम्बे अंशका इतना ही उत्तर है। अब आप कृपया इस विषयको यहीं छोड़ दें—यह प्रार्थना है, क्योंकि अब इस विषयपर कुछ कहने-लिखनेका विचार नहीं है।

अब आपके दूसरे प्रश्नोंका, जो अधिकांशमें व्यावहारिक जगत्‌से सम्बन्ध रखते हैं, उत्तर निम्नाङ्कित है—

जहाँतक मेरा अनुमान है—इस समय भौतिक जगत् उन्नतिके नामपर पतनकी ओर, विकासके नामपर विनाशकी ओर, निर्माणके नामपर ध्वंसकी ओर एवं शान्तिके नामपर अशान्तिकी ओर जा रहा है—द्रुतगतिसे—उन्मत्त-सा होकर! जितने ही वैज्ञानिक चमत्कार बढ़ेंगे, उतने ही भौतिक कष्ट, अशान्ति, संताप भी बढ़ेंगे। जबतक चित्तकी भूमिकापर भगवान्‌के स्थानपर भोगोंका अधिकार रहेगा, तबतक यही दुर्दशा रहेगी ही।

गोरक्षा-आन्दोलनसे सरकारका मन अभीतक नहीं बदला, यह सत्य है। हो सकता है—आन्दोलनकारियोंका मानस सर्वथा

शुद्ध न हो। यह भी पता नहीं कि भगवान्‌की मङ्गलमयी लीला अब किस रूपमें आत्म-प्रकाश करना चाहती है। प्रलय भी तो उनकी लीला ही है। गौकी रक्षापर सरकारके उच्चस्तरीय लोग सहानुभूतिसे विचार करते तो निश्चय ही विश्वको बड़ा भौतिक, कुछ आधिदैविक तथा किसी अंशमें आध्यात्मिक लाभ भी अवश्य होता। पर शायद ऐसा नहीं होना होगा। भगवान् सबको सुबुद्धि दें, सबका मङ्गल करें।

आचार्यों-संतोंका अनशन अभीतक तो चल रहा है। कबतक चलेगा, उनके प्राण छूट जायँगे, वे अनशनका त्याग कर देंगे, समझौता हो जायगा या और कुछ होगा—कुछ पता नहीं। इस विषयमें भविष्यकी बात न मैं जानता हूँ, न जाननेकी आवश्यकता ही है। कुछ महानुभाव अनशन त्याग करानेकी चेष्टा कर रहे हैं—सच्ची हितभावनासे और गोवंशकी रक्षा तथा संतोंके हेतुसे ही। वे नैतिक दृष्टिसे अपने तर्कोंके द्वारा कुछ समयके लिये अनशन और आन्दोलन स्थगित करनेका प्रस्ताव करते हैं। उधर आध्यात्मिक दृष्टिकोणवालोंको इसके विपरीत दूसरी ही बात समझमें आती है और मुझे भी वही ठीक मालूम होती है; भगवान्‌के मङ्गल-विधानके अनुसार जो होना होगा, होगा ही; उसकी चिन्ता नहीं है। चिन्ता है लीलामयके लीलासंकेतका अनुसरण करनेमें अहंकारके बाधक होनेकी।

अब रहा प्रश्न यह कि चुनावमें किनको मत दिया जाय, सो इस सम्बन्धमें मैं पिछले पत्रमें निवेदन कर चुका हूँ। मेरा किसी भी राजनीतिक दलसे कोई सम्बन्ध नहीं है। अतएव मैं दलके नाते

किसीका भी समर्थन-विरोध नहीं करता, न इसका कोई महत्त्व ही है। आजकलके इस कथित जनतन्त्रके चुनावका प्रायः आरम्भ होता है—मिथ्या अहंकारके आधारपर, सीमित 'स्व' की भूमिकापर। अपनी मिथ्या प्रशंसा एवं दूसरोंकी मिथ्या निन्दाके द्वारा इसका सूत्रपात होता है; अर्थात् असत्य, निम्नकोटिके स्वार्थ तथा राग-द्वेषपर ही इसकी प्रतिष्ठा होती है। अतएव इससे परिणाममें कोई यथार्थ लाभ भी नहीं दिखायी देता; पर जो इस क्षेत्रमें हैं, उनके द्वारा चेष्टा यही होनी चाहिये कि सच्चे, ईमानदार, विचारशील, बुद्धिमान्, न्यायपरायण, सर्वभूतहितैषी, कर्तव्यशील, ईश्वरसे डरनेवाले, गो-ब्राह्मण तथा विपत्ति-ग्रस्तोंकी रक्षामें तत्पर एवं धर्मभीरु लोग भी संसद् और विधान-परिषद् आदिमें जायँ, चाहे वे किसी भी दलके हों।

मेरी पुनः भगवान्से यही प्रार्थना है कि वे सबको बुद्धि दें, जिससे उनके मन भगवान्के सेवन-भजनमें लगें और सब यथार्थ कल्याण तथा परम शान्ति-सुखके भागी हों—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

शेष भगवत्कृपा।

——::×::——

कानूनन गोवध बंद होना चाहिये*

आपका २४ जनवरीका कृपापत्र मिला। आपने कृपापूर्वक मेरे पत्रका तत्काल स्वयं लम्बा पत्र लिखकर उत्तर दिया, इसके लिये मैं आपका कृतज्ञ हूँ। मेरे प्रति चिरकालसे आपकी जो अहैतुकी प्रीति, शुद्ध सद्भावना तथा आत्मीयता है, इसके लिये मैं आपका सदा ही ऋणी हूँ, आपका संदेश मैं····महाराजके पास भेज रहा हूँ। वे क्या करेंगे, इसका निश्चित तो पता नहीं है, पर आशा है—वे फिलहाल आपकी बात मान लेंगे।

आपने पत्रमें जो कुछ विचार प्रकट किये हैं, वे सर्वथा स्तुत्य और विचारणीय हैं एवं उनके अनुसार गो-संवर्धन, नस्ल-सुधार, गो-सेवा होनी ही चाहिये। लोग छलसे कसाईके हाथ पगहा नहीं पकड़ाते और कसाई भी रुपये जमीनपर रख देता है—इस प्रकार कपटसे आँख बचाकर स्वार्थवश गोवध हो या कराया जाय, इसमें संतोष माननेकी तो कल्पना ही नहीं है; यह तो प्रत्यक्ष गोहत्या है—महापाप है; यह बंद होनी ही चाहिये।

---

* यह पत्र ३० जनवरी १९५३ को तत्कालीन राष्ट्रपति डॉक्टर श्रीराजेन्द्रप्रसादजी-को लिखा गया था।

परंतु साथ ही कानूनन सर्वथा गोवध बंद भी होना ही चाहिये। इसके बिना अच्छी गायोंका कटना बंद नहीं होगा। आपसे कई बार पहले भी बात हो चुकी है और आपने इस बातको स्पष्ट रूपसे स्वीकार किया था। किंतु आप आवश्यकतासे अधिक साधु हैं। इसलिये स्पष्टवादी होनेपर भी कहीं-कहीं मित्रों तथा साथियोंके मनके विरुद्ध या सरकारकी नीतिके विपरीत कोई बात कहनेमें हिचक जाते हैं। अतएव मेरी यह विनीत प्रार्थना है कि अब आपको साहसके साथ अपने मनकी बात स्पष्ट कर देनी चाहिये कि 'सरकारको कानूनन सर्वथा गोवध बंद करना होगा।' और इसके लिये उचित प्रयत्न भी करना चाहिये।

आशा है, मेरी प्रार्थनापर आप ध्यान देंगे और मैं धृष्टतापूर्ण जो शब्द लिख गया हूँ—यद्यपि आप जानते हैं कि ये सत्य हैं—उसके लिये मुझे कृपया क्षमा करेंगे।

आप स्वस्थ और सानन्द होंगे। शेष भगवत्कृपा।

——::×::——

भगवत्कृपासे ही भगवत्प्रेमकी प्राप्ति

सप्रेम हरि स्मरण! आपका कृपापत्र प्राप्त हुआ। भगवान् अथवा भगवान्के प्रेमकी प्राप्ति कोई दूसरा करा दे, यह सम्भव नहीं है। भगवान् न तो किसीके वशमें हैं और न भगवान् किसी मूल्यपर मिलते ही हैं। दर्शनकी अनन्य लालसा मनमें उत्पन्न कीजिये और अत्यन्त आतुर हो जाइये अथवा दर्शनकी एकान्त लालसाको मनमें रखकर अपनेको उनकी कृपापर छोड़ दीजिये। वे जब उचित समझेंगे, तब अपने-आप ही अपना या अपने प्रेमका दान आपको कर देंगे। दूसरा कोई साधन नहीं। मैं तो सभीके लिये हृदयसे चाहता हूँ कि सब लोग भगवान्के अपने बनें और सबपर भगवान्की कृपा तो है ही, उसे पहचान लिया जाय। भगवान्की कृपाका दर्शन भगवद्दर्शनसे भी अधिक महत्त्व रखता है। आप उनकी कृपापर विश्वास करके बिना किसी शर्तके उनके हो जायँ तो सम्भव है कि आपकी इच्छा (यदि वह सच्ची, अनन्य और तीव्र होगी तो) दूसरे किसी भी उपायकी अपेक्षा शीघ्र पूरी होगी। न किसी साधनसे यह होगा, न किसी मनुष्यके किये होगा—यह होगा भगवान्की कृपासे ही और भगवत्कृपाके दर्शन होगें अनन्य विश्वास और उनके चरणोंकी शरणागतिसे ही। शेष भगवत्कृपा।

——::×::——

उत्थानके नामपर पतन

आपका कृपापत्र प्राप्त हुआ। मेरी समझसे जिस समाजमें चरित्र, सदाचार, सद्‌गुण, धर्म और भगवान्‌का स्थान नहीं रह गया है या इनके स्थान नगण्य हो गये हैं, वह समाज उन्नतिकी ओर नहीं जा रहा है, पतन या विनाशकी ओर जा रहा है। हमारे वर्तमान समाजका अधिकांशमें यही हाल है। जीवनके स्तरका ऊँचा होना वास्तवमें अच्छे खाने-पीने, अच्छे पहनने-ओढ़ने, ऐश-आरामसे रहने, नाटक-सिनेमा देखने, बहुत कम काम करने, रहन-सहन और खान-पानकी शुद्धिका परित्याग करनेका नाम नहीं है। दुःख तो इसी बातका है कि 'जीवनके उच्च स्तर' में आज इन्हीं सबकी प्रधानता हो गयी है; चरित्र, सदाचार, त्याग और सद्‌गुणोंकी नहीं। इसीसे भोगपदार्थोंकी आवश्यकताएँ अनन्तरूपमें बढ़ गयी हैं और उनकी पूर्तिके लिये पैसेकी आवश्यकता और किसी भी बुरे-से-बुरे साधनसे भी पैसा पैदा करनेकी इच्छा एवं चेष्टा बनी रहती है। जिसके पास किसी प्रकारसे भी पैसा आ जाता है—चाहे वह चोरी, हिंसा, छल, मिथ्याचार, परपीड़न आदि किसी साधनसे भी हो—वह जगत्‌में पूज्य माना जाता है; उसीका समाजमें आदर-सम्मान और नेतृत्व भी होता है। यहाँतक कि धार्मिक और पारमार्थिक अनुष्ठान करनेवाले साधु-महात्मा, त्यागी-विरागी लोग भी बड़े-बड़े समाज-सेवी, राष्ट्र-सेवी और जनताके विद्वान् और बुद्धिमान् लोग

भी उसीके पास आते हैं, क्योंकि त्यागमय अनुष्ठानके स्थानपर आजकल अर्थमय अनुष्ठानकी ही, द्रव्य यज्ञोंकी प्रधानता हो गयी है और उनमें पैसेके बिना काम चलता नहीं। अतएव पैसेवाले यह समझते हैं कि चाहे जिस प्रकारसे भी हम पैसा कमावें, हमारी सारी बुराई पैसोंसे ढक जाती है और सभी क्षेत्रोंमें हमारी पूजा होती है—केवल दानके क्षेत्रमें ही नहीं, 'ज्ञान' और 'धर्म' के क्षेत्रमें भी। अच्छे-अच्छे नैतिक, धार्मिक और पारमार्थिक समारोहोंका उद्घाटन अथवा सभापतित्व भी उन्हींको प्राप्त होता है। इस प्रकार भोग-प्रधान, दूसरे शब्दोंमें अर्थ-प्रधान युगमें और समाजमें खुलेआम 'चोरपूजा' होती है और यह चोरपूजा सभी दूसरे लोगोंको चोरी करके पैसा कमाने और जीवनका स्तर ऊँचा करने अथवा सम्मान तथा पूजा प्राप्त करनेके लिये प्रलुब्ध करती है। यह वास्तवमें पतन है, उत्थान नहीं।

इसीलिये आज समाजमें चरित्रका, सद्गुणोंका, संयमका, सादगीका एवं त्यागका कोई आदर नहीं रह गया। इन गुणोंको अपनानेवाले लोग समाजमें पूजा नहीं प्राप्त करते, वरं अनादर प्राप्त करते हैं, क्योंकि आज उच्चताका नाप-तौल केवल 'अर्थ', 'अधिकार' और 'भोग' के काँटेसे ही होने लगा है और इसीसे चारों ओर बड़े-बड़े कार्यालयोंमें, आश्रमोंमें, मन्दिरोंमें सर्वत्र अनाचार और सभ्यताके आवरणमें ढकी हुई डकैतियाँ और

चोरियाँ रहती हैं और ऐसा करनेवाले वे सभ्य डकैत-चोर समाजमें ऊँचा स्थान प्राप्त किये रहते हैं। किसके दो सिर हैं जो अधिकार और अर्थसम्पन्न इन चोर-डकैतोंकी ओर अँगुली भी उठा सके ? बुद्धि ही सबकी उलटी हो गयी है; इसीलिये सभी कुछ उलटा दिखायी देने लगा है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥

(१८।३२)

बुद्धि जब तमसे ढक जाती है, तब वह अधर्ममें धर्म, पापमें पुण्य, अवनतिमें उन्नति, पतनमें उत्थान—यों सब कुछ उलटा ही देखती है और जहाँ बुद्धि मारी जाती है, वहाँ सर्वनाश होता ही है—'**बुद्धिनाशात् प्रणश्यति**'। अतएव मेरी समझमें तो बुद्धिके भोगपरायण होकर तमसाच्छादित हो जानेके कारण आजका समाज पतनकी ओर ही जा रहा है। पता नहीं, कहाँ जाकर इसका विराम होगा ! बस, भगवान् सबका मङ्गल करें, सबको सद्बुद्धि दें। आप जहाँतक इस मोह-मायासे बच सकें, बचनेका प्रयत्न करें। प्रवाह तो बहता ही है और सभी लोग हताश होकर यह मान लें कि हम तो प्रवाहमें बहनेके लिये बाध्य ही हैं तो कोई कैसे बचेगा ? इसलिये भगवान्‌की कृपापर भरोसा करके, यदि बहुत साथी न मिलें तो दो-चारको साथ लेकर या अकेले ही सत्यके मार्गपर और भगवान्‌के मार्गपर नित्य आरूढ़ रहना चाहिये; निश्चय ही परिणाम परम मङ्गलमय होगा। शेष भगवत्कृपा।

——::×::——

मान-प्रतिष्ठा और पूजा आदिसे बचना चाहिये

सप्रेम हरिस्मरण ! आपका पत्र मिला। एक भाईके द्वारा आपके छपवाये हुए पत्रकी एक नकल मिली। आशा तो लोग यह करते हैं और करनी ही चाहिये कि इस प्रकार सद्भावनासे कोई कार्य किया जाय तो उसके लिये कृतज्ञतापूर्ण बधाई मिले; कम-से-कम उसकी सराहना तो की ही जाय। इसके बदले मैं आपको एक तरहका उपालम्भ दे रहा हूँ, मेरी स्थिति समझकर आप क्षमा करेंगे; बुरा तो मानेंगे ही नहीं। मुझे एक बहुत निकटके मित्रने लिखा है कि 'जैसे निन्दाका आघात सहन किया जाता है, वैसे ही प्रशंसाका भी (यदि वह आपको आघात-सा लगे तो) सहन करना चाहिये। दोनों स्थितियोंमें मन अचञ्चल रहना चाहिये।' बात बहुत ठीक है, पर मैं तो निन्दाका आघात सहन नहीं कर सकता। पुष्पोंका हार चाहता हूँ, जूतोंकी माला नहीं। इसलिये दोनों स्थितियोंमें समान कैसे रहूँ ? प्रशंसा अच्छी लगती है, पर उसका विरोध इसीलिये होता है कि कहीं प्रशंसा सुन-सुनकर अपनेको ऊँचा न मान बैठूँ और अभिमान उत्पन्न होकर जीवन और भी न गिर जाय। इसी अपनी कमजोरीके कारण प्रशंसाका विरोध करता हूँ। यह तो सत्य ही है कि नाम-रूपके यश और पूजाकी इच्छा तो स्पष्टतया अज्ञान है। जो नाम-रूपको ही अपना स्वरूप मानता है, वही नाम-रूपकी प्रशंसा चाहता है।

इस अज्ञानके सर्वथा दूर होनेपर ही समता आ सकती है और तभी स्तुति-निन्दा एवं मानापमानमें सम हुआ जा सकता है। साधकको तो मान-प्रतिष्ठा और पूजा आदिसे डरना ही चाहिये और उसके मित्र तथा हितैषियोंका भी यह कर्तव्य होता है कि वे उसको इस मीठे विषसे बचाते रहें। इसी दृष्टिसे आपसे भी तथा अन्यान्य अपने सभी हितैषी, स्नेह रखनेवाले मित्रों-बान्धवोंसे निवेदन किया जाता है कि वे शुद्ध भावसे भी मेरी रक्षाके लिये इस प्रकारके कार्य कृपापूर्वक न किया करें। शेष भगवत्कृपा।

——::×::——

मीठा जहर

सस्नेह हरिस्मरण ! पिछले दिनों तुम्हारे कई पत्र मिले थे। शरीरकी अस्वस्थता और 'कल्याण' के विशेषाङ्कके कार्यमें अत्यन्त व्यस्त रहनेके कारण मैं उत्तर नहीं लिख सका, क्षमा चाहता हूँ। प्रारम्भसे अबतक मैंने तुमसे अहैतुक, अकृत्रिम और बड़ा मधुर स्नेह प्राप्त किया है। तुम निरन्तर मुझे देते ही रहे हो। अब तो तुम्हारी उस दानशीलताका प्रवाह बड़ा प्रबल हो गया है। प्रेमका कोई बदला हो ही नहीं सकता। अतः मैं सदा ही तुम्हारा ऋणी हूँ और ऋणी रहूँगा। तुमसे मैंने जो कुछ पाया है, वह अमूल्य है; वाणीसे उसका निर्वचन नहीं हो सकता।

मेरे नामपर 'हीरक समारोह' का जो तुमने प्रस्ताव किया है, उसमें भी तुम्हारी उस पवित्र स्नेह-सरिताका ही परिचय मिलता है। तुम्हारा यह विशाल आयोजन तुम्हारी दृष्टिमें बहुत छोटा-सा होनेपर भी वस्तुतः बहुत बड़ा है। मैंने पहले भी संकेत किया था, भैया ! मैं बड़े दुर्बल मनका प्राणी हूँ। अपमान सह लेना, अपमानित होकर क्षुब्ध न होना उतना कठिन नहीं है, जितना मान प्राप्त करके उसे सह लेना और क्षुब्ध न होना कठिन है। विषाद और हर्ष दोनों ही क्षोभ हैं। मनमें दुर्बलता रहते हुए भी मुझे भगवान्‌ने बड़े सम्मानोंसे अबतक बचाया है। तुम्हारी जगह दूसरा कोई इस आयोजनका व्यवस्थापक होता तो मैं उसे डाँटकर भी अपनी रक्षा कर लेता, पर तुम्हारे सामने बोलना तुम्हारे स्नेहसे दबे हुए मेरे हृदयके लिये बड़े दुस्साहसका काम है। इसलिये बड़े

विनीत भावसे तुमसे प्रार्थना करता हूँ, यह भीख माँगता हूँ कि तुम मुझे इस मीठे जहरसे बचाओ। तुम यह कहोगे—तुमने कहा भी था और तुम ऐसा मान भी सकते हो कि 'इसमें तुम मेरा सम्मान नहीं करते, मुझे निमित्त बनाकर भगवान्‌ने जो काम करवाया है, उसीको सबके सामने रखकर प्रकारान्तरसे भगवन्महिमाका प्रचार करना चाहते हो।' पर भाई, मैं वीतराग तो हूँ नहीं। यद्यपि नाम-रूप मिथ्या हैं, पर नामाभिमान तो है ही। इसलिये नाम साथ जुड़ा रहनेपर मैं क्षोभरहित निर्लेप रह सकूँ, ऐसा मुझे अपनेपर विश्वास नहीं होता। दूसरे, मैं जीवनभर इस प्रकारके आयोजनोंका विरोधी रहा हूँ। और आज मेरे ही नामके साथ जुड़े हुए इस आयोजनका चेतना रहते हुए चुप रहकर भी समर्थन करूँ, यह मेरे लिये कहाँतक उचित है। इसपर तुम्हीं विचार करो—थोड़ी देरके लिये मेरे स्थानपर तुम आ जाओ और सोचो कि यह कार्य क्या मेरे समर्थनके योग्य है? मैं लोगोंसे कहता आया हूँ और अब भी कहता हूँ और यद्यपि मैं अभी ऐसा बन नहीं सका, पर चाहता तो हूँ कि सम्मानको मैं घोर विष समझूँ—

'सम्मानं कलयाति घोरगरलं नीचापमानं सुधा।'

तुम मुझे यह सत्परामर्श भी दे सकते हो कि 'जब नाम-रूप मिथ्या हैं, तब किसी नामकी निन्दा-स्तुतिमें तुम अपनी निन्दा-स्तुति क्यों मानते हो'? बात ठीक है, मुझे नहीं माननी चाहिये, पर यह आयोजन भी तो नाम-रूपको साथ रखकर हो रहा है; नहीं तो आत्माके लिये किसी आयोजनकी आवश्यकता नहीं है। तुम मेरे हितैषी हो—सच्चे हितैषी हो, मित्र हो, सदा तुमने मेरा भला चाहा, भला किया और अब भी भला ही चाहते हो, पर

मैं प्रार्थना करता हूँ कि तुम एक बार सोचकर देखो, तो पता लगेगा कि इसमें मेरा हित नहीं होगा। यद्यपि मैं इस स्थितिपर नहीं पहुँचा हूँ, पर यह सत्य तो है ही कि 'नाम-रूप', जो कल्पित और औपाधिक हैं, उनकी निन्दा-स्तुति और मान-अपमानमें आत्माका मान-अपमान और निन्दा-स्तुति मानना अज्ञान ही है। और जो लोग प्रशंसा या अपना सम्मान चाहते हैं, वे नाम-रूपको सत्य मानकर मानो अज्ञानकी ही घोषणा कर रहे हैं। अतएव नाम-रूपको आत्माका स्वरूप कभी नहीं मानना चाहिये और इस दृष्टिसे नाम-रूपके मानापमानमें आत्माका कुछ बनता-बिगड़ता भी नहीं। पर मेरे-जैसा प्राणी, जो नाम-रूपके मोहसे मुक्त नहीं हुआ है, जिसको समता नहीं प्राप्त हुई है, उसके लिये तो मान और प्रशंसासे बचना ही इष्ट है और एक सच्चे मित्रके नाते मैं तुमसे यह अवश्य ही आशा रखता हूँ कि तुम इस बातको भलीभाँति समझकर मुझे इससे बचानेके लिये प्रस्तुत हो जाओगे और इस आयोजनका विचार सर्वथा छोड़ दोगे।

मैंने ऊपर जो कुछ लिखा है, यह न तो तुम्हारे सद्भावोंका अनादर करनेकी किसी कल्पनासे लिखा है और न अपनी बहुत साधुताके किसी अभिमानको लेकर ही लिखा है; केवल मित्रके नाते तुम्हारे सौहार्द और प्रेमके बल-भरोसेपर तुमसे प्रार्थना की है। आशा है, मेरी प्रार्थना तुम अवश्य स्वीकार करोगे। शेष भगवत्कृपा।

——::×::——

सदा विवेकको जाग्रत् रखें

आपका पत्र मिला। इधर बहुत चिन्ता रही। आप स्वास्थ्यका ध्यान रखियेगा। भगवान्‌की कृपा तथा उनके मङ्गल-विधानपर विश्वास करके मनमें बहुत प्रसन्न रहियेगा। भविष्यके सम्बन्धमें पूर्ण आशावादी रहना चाहिये—सदा उज्ज्वल परम श्रेष्ठ भविष्यकी आशा तथा दृढ़ धारणा करनी चाहिये। कभी नेकारात्मक (Negative) विचार करके मन्दोत्साह नहीं होना चाहिये। मैं हृदयसे चाहता हूँ कि आप परमसुखी हों, आपका जीवन सर्वांगीण समुन्नत हो, आपके विचार उच्च तथा आदर्श हों, आपका प्रत्येक कार्य सात्त्विक तथा सबके लिये अनुकरणीय हो। और मेरा विश्वास है कि आप यदि मेरे विचारोंके अनुसार भगवान्‌पर विश्वास रखकर विचार तथा कार्य करेंगे तो आपके सम्बन्धकी मेरी सारी भविष्य-कल्पनाएँ सत्य हो सकती हैं। जो कुछ हो गया सो हो गया; उसके लिये आप पश्चात्तापके सिवा और कर ही क्या सकते हैं। मैं तो समझता हूँ कि भगवान्‌ने बड़ी रक्षा की। उस समय आप जैसे अनर्गल बोल रहे थे—वाणीपर नियन्त्रण नहीं रह गया था, वैसे ही कुछ हाथोंसे हो गया होता तो कितना भयानक तथा भविष्यको बिगाड़नेवाला होता; क्योंकि उस समय आपको क्रोधावेशमें भविष्यका विचार नहीं था, इसी प्रकार उन्होंने जब हाथ चलाया, उस समय वे भी भविष्यके विचारसे शून्य आवेशमें थे। उन्हींके हाथसे कहीं कोई ऐसी सांघातिक

चोट लग जाती तो कितना अनर्थ हो जाता। मैं तो सोचकर ही काँप जाता हूँ और मन-ही-मन भगवान्‌की कृपापर मुग्ध होता हूँ कि उसने कितनी रक्षा की !

मनुष्यद्वारा जब-जब ऐसे कुकार्य होते हैं, तब आवेशमें ही होते हैं, क्योंकि उस समय बुद्धि नष्ट हो जाती है और इसीका परिणाम सर्वनाश होता है। मानव-जीवन मिला है भगवत्प्राप्तिके लिये। जीवनभर उत्तम-से-उत्तम आचरण करते हुए—त्याग-तपस्या करते हुए भगवान्‌की ओर बढ़ते रहनेमें ही मानव-जीवनकी सार्थकता है। वह न होकर उलटे ऐसे कर्मोंका होना, जिनका परिणाम यहाँ दुःख, अकीर्ति, घोर पश्चात्ताप, भविष्यमें दुःखभोगोंके लिये बाध्य होना, जीवनमें घोर अशान्ति, दुःखपूर्वक देहत्याग और परलोकमें भयानक नरकों तथा अत्यन्त दुःखदायी योनियोंकी प्राप्ति अनिवार्य हो—कितना बड़ा अनर्थ है। यह सब अविवेकसे होता है। इसलिये मनुष्यको काम, क्रोध, लोभ आदिके वशमें होकर कभी आवेशमें नहीं आना चाहिये और सदा धीरजके साथ विवेकपूर्वक कर्तव्यका निश्चय करके मन, वाणी, शरीरको वशमें रखते हुए ऐसे ही विचार तथा कार्य करने चाहिये, जिनका परिणाम लोक-परलोकमें परम सुख-शान्ति हो और मानव-जीवनकी सफलता समीप-से-समीप आ जाय। लोग भी उसे देखकर सन्मार्गपर आरूढ़ हों।

अतः मनुष्यको चाहिये कि वह सदा विवेकको जाग्रत् रखे, कभी किसी आवेशमें न आवे; मस्तिष्क सदा संतुलित रहे। दूसरे क्या करते हैं, उन्हें क्या करना चाहिये—यह न देखकर, न सोचकर अपने विचारों तथा आचरणोंको सदा पवित्र रखे। बुरा

करनेवालेके साथ भी भला बर्ताव करे। अहित करनेवालेका भी हित सोचे-करे, दुःख देनेवालेका भी सुख सोचे तथा सुख-साधन करे। असली सिद्धान्त तो यह है कि हमारे अपने ही पहलेके किये हुए कर्मोंके फल (प्रारब्ध) हुए बिना हमें कोई भी न तो दुःख दे सकता है, न जरा भी हमारा अनिष्ट ही कर सकता है; पर यदि वह हमें दुःख देना या हमारा अनिष्ट करना चाहता है तो उसका अनिष्ट अवश्य हो जाता है। इसी प्रकार हम भी किसी दूसरेका बिना उसके प्रारब्धके अनिष्ट नहीं कर सकते, परंतु दूसरेके अनिष्ट तथा दुःखकी इच्छा करके हम पाप करते हैं और अपने बुरे बर्तावसे उसके मनमें भी अपने प्रति द्वेष तथा वैर पैदा करके उसके विचारोंको भी नीचे गिराकर उसके द्वारा भी पाप होनेमें कारण बनते हैं। जो मनुष्य किसीके बारेमें बुरा सोचता है, वह उसे बुरे विचार देकर गिराता है—स्वयं तो गिरता ही है। और जो किसीके बारेमें सदा शुभ—अच्छा सोचता है, वह स्वयं भी उठता है और उसके विचारोंको शुभ बनाकर उसे भी उठाता है। इस प्रकार वह अपना तथा दूसरोंका कल्याण करता है। आप ही सोचिये—आपको उस दिन क्रोधका आवेश न आता तो इतनी बातें क्यों होतीं ? क्यों सबके मनोंमें अशान्ति होती ? क्यों कुक्रिया होती और क्यों द्वेष बढ़ता ? इसके विपरीत आपके द्वारा यदि सेवा, नम्रता तथा मधुर वचनोंके द्वारा सबको प्रसन्न करनेकी चेष्टा होती रहती तो सबके मनमें कितना हर्ष तथा प्रेम बढ़ता—यह विचारणीय है। आप बुद्धिमान् हैं, पढ़े-लिखे हैं; अतः अपना तथा सबका भविष्य सोचकर ही कर्तव्य निश्चय करना चाहिये। आवेशमें ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिये, जिससे पीछे

पश्चात्ताप करना पड़े और हाथसे अवसर निकल जाय।

आप जरा भी बुरा न मानियेगा—वह चाहे कितनी ही बुरे स्वभावकी हो—आपके पिताजीने उसका पाणिग्रहण किया है, अतएव वह आपकी पूजनीया माँ हैं। हर तरहसे उनका समादर करना तथा उन्हें सुख पहुँचाना आपका कर्तव्य होता है। उनके सुखी होनेसे आपके पिताजीको सुख-संतोष होता है; और पिताजीके द्वारा आपको स्वतः ही आशीर्वाद प्राप्त होता है।

राजा शान्तनु वृद्ध थे। उनके पुत्र भीष्म (सत्यव्रत) जवान थे, वीर थे; उनका विवाह और राज्याभिषेक होनेवाला था। इसी बीच शान्तनुकी सत्यवती नामक एक कन्यासे विवाह करनेकी इच्छा हुई। सत्यवतीके पिताने कहा—'यदि सत्यवतीके पुत्रको ही राज्य मिले—भीष्मको न मिले। कहीं भीष्मके लड़के हों और वे सत्यवतीके लड़कोंसे लड़कर राज्य छीन लें—इसलिये भीष्म विवाह ही न करें। ये दो शर्त—भीष्मको राज्य न मिले और भीष्म जीवनभर अविवाहित रहें—मानें तो शान्तनुके साथ सत्यवतीका विवाह हो सकता है'। दोनों ही शर्तें धर्म तथा राजनीतिके विरुद्ध थीं। शान्तनु कैसे स्वीकार करते तथा भीष्मसे भी कैसे पूछते? वे चुप रहे। पर उनके मनकी वासना नहीं मिटी; वे अत्यन्त उदास रहने लगे। भीष्मने पिताकी उदासीका पता लगाया और सब बातें जानकर स्वयं सत्यवतीके पिताके पास जाकर यह प्रतिज्ञा की—'मैं कभी राजगद्दीपर नहीं बैठूँगा और जीवनभर विवाह नहीं करूँगा।' देवताओंने इस भीषण प्रतिज्ञाको सुनकर उनका नाम सत्यव्रतसे 'भीष्म' रखा। पिताका विवाह हो गया। भीष्म आजन्म अविवाहित रहे और राजा नहीं बने।

भगवान् श्रीरामचन्द्रने विमाता कैकेयीके वचनोंको अति प्रसन्नताके साथ आदर देकर पिताकी इच्छा न होनेपर भी सानन्द वनवास स्वीकार किया।

प्रह्लादने आजन्म दुःख देनेवाले पिताकी सद्गतिके लिये निष्काम होकर भी भगवान्से वरदान माँगा और पिताकी सद्गतिके लिये कामना की।

ये सब हमारे आदर्श हैं। अतएव मेरा आपसे यह नम्र अनुरोध है कि आप अपने मनसे विरोधी भावको सर्वथा निकाल दें। उनको भी समझें और उनका आदर करें। उनको देखते ही आपको जो क्रोध आता है, उसके बदलेमें सौम्यभावके साथ उनके प्रति सम्मानके भाव आवें।

विष देनेवालेको भी अमृत देना चाहिये। सर्वथा अमृतका ही छिड़काव करना चाहिये। अपने हृदयको अमृतकलश बनाकर, सबमें सदा अमृत वितरण करके उनके विषको मिटा देना चाहिये।

सब सुखी हों, सब नीरोग हों, सबको सदा मङ्गल—कल्याण ही देखनेको मिले। किसीको जरा भी दुःख न मिले—यही हमारा विचार और ऐसे ही हमारे आचरण होने चाहिये।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

अतएव आप उचित समझें तो आपको उन सबसे क्षमा माँग लेनी चाहिये, ऊपरसे नहीं सच्चे हृदयसे। और भविष्यमें उनकी ओर न देखकर अपनी ओर देखना तथा अपने जीवनको सदा

पवित्र, मस्तिष्कको सदा संतुलित और मनको सदा शुभ-विचारयुक्त रखना चाहिये, इसीमें सर्वथा मङ्गल है।

मेरे विचारसे आपको—

(१) सबके प्रति विनम्र होना चाहिये, सबका आदर करना चाहिये।

(२) सबसे सदा मीठा बोलना चाहिये।

(३) कभी आवेशमें नहीं आना चाहिये।

(४) आवेश आ जाय तो उसे बाहर नहीं प्रकट होने देना चाहिये।

(५) विवेकके द्वारा भविष्यकी बात सोचकर कर्तव्यका निश्चय करना चाहिये।

(६) खान-पानको सदा परम पवित्र रखना चाहिये।

(७) भगवान्‌पर अटल विश्वास रखना चाहिये।

ऊपर मैंने जो कुछ लिखा है, वह परम विशुद्धभावसे आपके कल्याणके लिये ही लिखा है। इसपर विचार करके आप आचरण करें—यह मेरी अभिलाषा है और मुझे आशा भी है कि आप धीरताके साथ विचार करके अपना कर्तव्य निश्चय करेंगे।

'वह कमजोर है, जो अपनी भूलको स्वीकार न करके उसे पकड़े रखता है।'

'वह बहादुर है, जो अपनी भूलको स्वीकार करके भविष्यमें भूल न करनेकी प्रतिज्ञा करता है।'

यह सब लिखनेपर भी अन्तमें मेरा यही लिखना है कि अवश्य ही मुझे बड़ी प्रसन्नता तो तब होगी, जब मैं आपको तथा⋯का तन-मनसे परम स्वस्थ, समुन्नत, सुखी तथा आदर्श

देखूँगा। पर चाहे कोई भी स्थिति हो, सदा ही—आपके प्रति मेरा प्यार-स्नेह, सद्भावना तथा हिताकाङ्क्षा अक्षुण्ण रहेगी। मैं सदा ही आपको सुखी देखना चाहूँगा और यथासाध्य ऐसा ही विचार तथा प्रयत्न करूँगा। आपका सुख ही मेरा सुख होगा। शेष भगवत्कृपा।

——::×::——

व्यवहारमें ऊँची बात

आपके कई पत्र आ चुके । मैं चाहता था कि हाथसे पत्र लिखूँ, पर शरीर बहुत शिथिल रहता है तथा मस्तिष्क भी पूरा काम नहीं करता। बहुत बार तो संसारके प्रपञ्चकी बात सामने आते ही वृत्ति जगत्‌को छोड़ देती है और बाह्य-चेतना लुप्त हो जाती है। जिस दिन, जिस समय वृत्ति कुछ ठीक रहती है, तब कुछ पत्रोंका उत्तर लिखवानेकी चेष्टा करता हूँ। इसी स्थितिमें यह पत्र सेवामें लिखवा रहा हूँ, क्षमा कीजियेगा।

आपका एक झगड़ा निपट गया, सो बहुत अच्छी बात हुई, भगवान्‌ने सुबुद्धि दी।

दूसरा झगड़ा अभी नहीं निपटा, इसके लिये आपके मनमें विचार होना स्वाभाविक ही है। मैं तो केवल भगवान्‌से प्रार्थना ही कर सकता हूँ कि वे सबको सुबुद्धि दें और झगड़ा न रहकर काम निपट जाय।

·····सम्बन्धमें मैं क्या लिखूँ, आपका और उसका जो प्रेम था, वह उस समय बहुत आदर्श मालूम होता था। प्रेम कभी बदला नहीं चाहता, लेना नहीं चाहता, देना ही चाहता है, दोष नहीं देखता, गुण ही देखता है, वह एकाङ्गी होता है। लेन-देनका व्यापार उसमें सम्भव नहीं है। पर प्रेमकी बाहरी स्थितिमें यदि अपने द्वारा होनेवाले उपकारोंके अभिमानकी वृत्ति मनमें छिपी हुई रहती है और उनके या उनके किसी अंशके बदलेमें कुछ पानेकी

भावना रहती है तो वह भावना समयपर प्रकट हो जाती है और प्रेमके स्वरूपको दूषित कर देती है। प्रेममें तो प्रेमास्पदका सुख ही अपना सुख होता है। उसमें 'क्या किया', 'क्यों किया', 'कैसे किया'—ये प्रश्न ही नहीं उठते। ऐसी बातें देख-सुनकर मुझे तो बड़ा दुःख होता है। आजके जगत्की स्थितिको देखकर तो इस जगत्में रहनेकी इच्छा ही नहीं होती और यदि रहा जाय तो मस्तिष्क जगत्का स्पर्श न करे। परन्तु ये दोनों ही बातें हो नहीं रही हैं, अपना उपाय भी क्या है ? न मैं आपको कुछ लिख सकता हूँ और न उसको ही। यदि दृष्टि ठीक हो तो आप दोनों ही मेरे मनके भावको समझ सकते हैं और यह भी जान सकते हैं कि मेरा स्नेह सदा निर्विकार और अक्षुण्ण है और वह सदा आपलोगोंका कल्याण ही चाहता है।

व्यवहारमें भी ऊँची बात और वास्तवमें अपने लाभकी बात यही है कि अपने द्वारा किये हुए किसीके 'उपकार' को और दूसरेके द्वारा अपने लिये किये हुए किसीके 'अपकार' को भूल जाय और अपने द्वारा दूसरेके लिये बने हुए 'अपकार' को और दूसरेके द्वारा अपने लिये बने हुए 'उपकार' को याद रखे। इससे दोनोंकी सात्त्विक वृत्ति बनी रहती है। साथ ही वे पारमार्थिक-पथपर आगे बढ़ते हैं।

जगत् क्षणभङ्गुर है, यहाँकी कोई भी चीज नित्य नहीं है। जगत् वास्तवमें सुखरहित ही नहीं है, दुःखयोनि है, पर शरीर और नाममें अहंता और ममता होनेके कारण मोहवश हमलोग इस सत्यको भूलकर राग-द्वेषमें फँस जाते हैं, जिससे यहाँ मृत्युके अन्तिम क्षणतक चिन्ता बनी रहती है और मरनेके बाद बड़ी दुर्गति होती है। मुझे एक प्रेतने बहुत-सी बातें बतायी थीं, उनमें एक

बात यह भी थी—'जो किसीके भी प्रति मनमें द्वेषको लेकर मरता है, उसकी बहुत दुर्गति होती है'। अतः मरनेसे पहले द्वेष छोड़ दें और क्षमा माँग लें।

मैं तो सारे जगत्‌के लिये यही चाहता हूँ कि सबलोग राग-द्वेष भूलकर एक-दूसरेके प्रति निष्काम सेवाकी भावना रखें, पर जो अपने घरके लोग हैं, उनसे तो ऐसी आशा रखना स्वाभाविक होता है; यद्यपि ऐसा किसीको बना देना मेरे हाथकी बात नहीं है। मैं तो स्वयं हजारों-हजारों दुर्बलताओंसे भरा हुआ प्राणी हूँ, अपने ही दोष दूर नहीं कर सकता, तब दूसरोंके दोष दूर करनेकी शक्ति मुझमें कहाँसे हो सकती है। शेष भगवत्कृपा।

——::×::——

अपनी स्थितिकी बात

सप्रेम हरिस्मरण। होगा तो वही, जो भगवान्‌ने रच रखा है। प्रारब्धके अनुसार फलका निर्माण तो पहलेसे ही हो जाता है, केवल वह सामने आता है। हमलोग अपनी अनुकूलता-प्रतिकूलताकी भावनासे व्यर्थ ही उसमें परिवर्तन करना-कराना चाहते हैं। अनुकूल फल हो जानेपर हम अपनी सफलता मान लेते हैं और हर्षित होते हैं और प्रतिकूल फलमें असफलता मानकर दुःखी हो जाते हैं। होता प्रायः वही है, जो होना अनिवार्य था और भगवान्‌के मङ्गल-विधानके अनुसार अन्तिम परिणामके रूपमें लाभदायक था। पर हमारा अहम् और हमारी भोगासक्ति न तो चिन्ता और अशान्तिसे ही हमें मुक्त होने देती है और न हमारा प्रयास ही छूट पाता है। इसी उधेड़-बुनमें मानव-जीवन बीत जाता है और जीवनका असली उद्देश्य सफल नहीं हो पाता।

इधर कई दिनोंसे मेरे मस्तिष्ककी विचित्र दशा हो रही है। लोग आते हैं, पत्र आते हैं और सब ठीक-ठीक अपने मनकी बात कहते हैं और समाधान चाहते हैं। उनमेंसे कुछसे मैं थोड़ी-बहुत बातचीत भी करता हूँ और किसी-किसीको पक्का उत्तर भी देता हूँ। पर समझमें नहीं आता, उन्हें मैं कैसे समझाऊँ—धरातलका ही बड़ा अन्तर है। मेरे धरातलपर आये बिना वे मेरी बात समझ नहीं सकते और उनकी बातोंका मेरे मनमें कुछ भी महत्त्व समझमें नहीं आता। लोगोंसे मिलने-जुलनेमें बड़ी "अरति" हो रही है। **'अरतिर्जनसंसदि'** गीताका यह पद बार-बार याद आता है। शिष्टाचारके नाते बड़े संकोचसे सबसे मिलता-जुलता तो हूँ, पर

(सबमें भगवत्-बुद्धि होनेपर भी) व्यावहारिक जगत्को असत्ता प्रतीत होनेके कारण यह व्यवहार भी अच्छा नहीं लगता। इधर तो पाँच-सात दिनमें लगातार अत्यन्त विरक्त संन्यास-आश्रम-ग्रहण करनेकी मनमें आ रही है, जिससे व्यवहारका सम्पर्क प्रायः अपने-आप ही बन्द हो जाय। इधर प्रेसमें भी गड़बड़ चल रही है; कार्यसंचालकोंमें आपसमें प्रेम नहीं है। सभी जगह व्यष्टि-अहम्की प्रबलता है।

बीच-बीचमें मेरा मस्तिष्क संसारको सर्वथा छोड़ देता है। जगत्की कोई सत्ता नहीं रह जाती। उस अवस्थामें तो किसी प्रकारकी अशान्तिका प्रश्न ही नहीं, जब अपने किंवाड़ बन्द करके बिलकुल अकेला रहता हूँ, तब भी शान्ति रहती है। किंवाड़ खुलते ही डर-सा लगने लगता है, कोई आ न जाय। घरवाले और बाहरवाले सभीके लिये एक-सी बात है। अभी यहाँ दो विवाह होनेवाले हैं, मेरा जी डर रहा है।

विवाहवालोंसे क्या कहा जाय ? पर हाँ, भगवान्की कृपासे विवाहके दिनोंमें मस्तिष्क खराब हो जाय तो अच्छा है। पर मैं यह जानता हूँ कि ऐसा मानना भी संसारकी सत्ताको सत्य मानना है। यह भी एक प्रकारका 'अज्ञान' ही है। परंतु जबतक वैसी स्वाभाविक स्थिति न हो जाय, तबतक बचना आवश्यक मालूम होता है। आप सब मेरे हितैषियोंसे, जो मुझे सुख देना और मेरा हित करना चाहते हैं—सबसे यह प्रार्थना है कि मेरे इस कार्यमें सब मेरी सहायता करें। मेरी इस परिस्थितिपर विचार करके जो कुछ उचित हो वह करना चाहिये। शेष भगवत्कृपा।

——::×::——

प्रभु सदा जीवके साथ रहते हैं

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण।

आपका पत्र पढ़कर बड़ी व्यथा हुई। संसारमें बिना कारणके कुछ भी नहीं होता। सभी कार्योंके पीछे कोई-न-कोई कारण अवश्य होता है। अस्तु, आपके ऊपर अनिच्छापूर्वक आयी हुई यह विपत्ति भी किसी पूर्वकृत दुष्कृतका ही परिणाम है ? सम्भव है, पूर्वके किसी जन्ममें आपके द्वारा इस प्रकारका कोई कृत्य हो गया हो, जिसका फल अब भोगना पड़ रहा है।

मनुष्य अच्छा करे अथवा बुरा—प्रभु उसपर सदा अपनी अहैतुकी करुणा एवं कृपा बरसाते रहते हैं। जीवनका एक क्षण भी उनकी कृपाके बिना खाली नहीं गुजरता। अच्छी-बुरी सभी स्थितियोंमें प्रभु जीवके साथ रहते हैं। अतः इस संकटग्रस्त स्थितिमें भी वे आपके साथ हैं—निरन्तर साथ हैं। आप उनकी ओर देखिये; उन्हें अविराम स्मरण कीजिये, आपका सारा दुःख विलीन हो जायगा और आप सदाके लिये सुखी हो जाइयेगा।

जिस जीवको प्रभु अपनाना चाहते हैं, उसको वे परिशुद्ध करना आरम्भ कर देते हैं। पूर्वकृत पुण्य एवं पापोंके खातेको पूरा करनेके लिये ही प्रभु सुख एवं दुःखका कर्मानुसार विधान करते हैं। उनका कोई भी विधान कृपासे खाली नहीं होता। अस्तु, प्रापञ्चिक बाधाओंसे निश्चिन्त होकर प्रभुकृपासे मिले हुए इस

समयका तथा परिस्थितिका सदुपयोग करें। उनके निरन्तर स्मरणसे अपने-आपको कृतार्थ कीजिये। वे जैसे भी रखें, प्रसन्नतापूर्वक रहें। दुःख केवल एक ही बातका मनमें हो कि प्रभुका स्मरण निरन्तर क्यों नहीं होता। स्वल्प स्मरणमें सन्तोष न करें। यदि मनने सचमुच प्रभुको पकड़ लिया हो तो सचमुच आप निहाल हो जाइयेगा। जीवन सदा-सदाके लिये सुखी हो जायगा। फिर तो इस कारागारसे क्या कालगतिसे चलनेवाले जन्म-मरणके कारागारसे ही आप सदा-सदाके लिये छूट जायेंगे। शेष भगवत्कृपा।

——::×::——

भजन ही परम सम्पत्ति है

सम्मान्य भाई साहेब ! सप्रेम हरिस्मरण। आप बहुत प्रसन्न होंगे। श्रीभगवान्‌का भजन तो करते ही होंगे। संसारमें ईश्वर-स्मरणके अतिरिक्त सभी कुछ सारहीन है। जिसके पास भजनकी परम सम्पत्ति है, वह दुनियाकी नजरमें निहायत कंगाल होनेपर भी सबसे बढ़कर धनी और सौभाग्यवान् है और जो इस सम्पत्तिसे रहित है, वह ऊँची-से-ऊँची लौकिक स्थितिपर पहुँचा हुआ होनेपर भी वस्तुतः अत्यन्त दरिद्र है। वह अपने मानव-जीवनको व्यर्थ ही खो रहा है, जिसके लिये उसे महान् पश्चात्ताप करना पड़ेगा। यहाँकी कोई भी चीज साथ नहीं जाती। जिसको हम अपना स्वरूप समझते हैं, वह शरीर भी कृमि, भस्म या विष्टा बनकर नष्ट हो जाता है, फिर दूसरी कोई चीज साथ जाय या मरणके समय और उसके बाद हमारी सहायता कर सके, ऐसी तो कल्पना ही नहीं करनी चाहिये। मनुष्य मूर्खतासे ही 'दुःखयोनि' विषयोंमें सुख समझकर उन्हींके पीछे पागल हुआ रहता है और अमूल्य जीवनरूपी हीरेको काँचके पीछे खो देता है। तुलसीदासजी महाराजने कहा है—

नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं ॥
ताहि कबहुँ भल कहहिं न कोई। गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई ॥

इसलिये अपने जीवनको भगवत्सेवनमें ही लगाना चाहिये। जगत्‌के सारे काम उन्हींकी पूजाके रूपमें भलीभाँति करने चाहिये और जगत्‌की समस्त चीजोंका उपयोग उनकी पूजाकी सामग्रीके रूपमें करना चाहिये। शेष भगवत्कृपा।

——::×::——

मृत्युपर विषाद या शोक करनेसे भला नहीं होता

प्रिय बहिन ! सस्नेह हरिस्मरण। भाई······ यहाँ आये थे, उनसे आपके बहनोई साहबके देहान्तका समाचार मालूम हुआ। उन्होंने यह भी बतलाया कि इस दुर्घटनासे आपको बहुत ही दुःख हो रहा है। वास्तवमें दुःख होना स्वाभाविक ही है। फिर आपका हृदय तो बहुत ही कोमल, सरल और सहानुभूतिपूर्ण है, इसलिये आपको दुःख हुए बिना रह नहीं सकता। ऐसी घटनासे दूसरोंको भी दुःख होता है, फिर आप तो सगी बहिन हैं। इतना होनेपर भी आप समझदार हैं, आपने सत्संग किया है और श्रीभगवान्‌का भजन करती हैं, इसलिये आपके द्वारा तो घरवालोंको सान्त्वना और धीरज मिलने चाहिये। आप जानती हैं, यहाँका सब कुछ विनाशी है; कोई चीज स्थिर नहीं है। जैसे एक सरायमें बहुत-से मुसाफिर आकर टिकते हैं और अपनी-अपनी गाड़ीका समय हो जानेपर चले जाते हैं, वैसे ही यह संसार मुसाफिरखाना है। अपने-अपने कर्मोंके भोगके लिये जीव यहाँ आते हैं और भोग पूरा होनेपर चले जाते हैं। यहाँका कोई भी सम्बन्ध नित्य नहीं है। इसलिये आपको स्वयं शोक न करके घरवालोंको भी समझाना चाहिये। दूसरी बात यह है कि मृत्यु ऐसी चीज है, जिसपर किसीका वश नहीं है। विषाद या शोक करनेसे जरा भी भला नहीं होता। जिस जीवका देहका सम्बन्ध छूट गया, वह फिर इस देहसे

कभी मिल नहीं सकता। शोकसे रोगादि बढ़ते हैं, चित्तमें तामसिक भाव आते हैं और मरकर गये हुए जीवको भी—यदि वह पुनर्जन्मको प्राप्त नहीं हो गया है तो—हमारा शोक देखकर बड़ी तकलीफ होती है। उनसे हमारा सच्चा स्नेह है तो हमें उनके लिये नाम-जप, गीता-पाठ, दान आदि करके उनके अर्पण करने चाहिये, जिससे उनको शान्ति मिले। व्यावहारिक सम्बन्धको लेकर यही कर्तव्य होता है।

परमार्थ-दृष्टिसे तो आत्मा अमर है; शरीरका वियोग होता ही है। हमलोगोंको जो शोक होता है, सो ममत्वके कारण होता है। विचार करनेपर पता लगता है, यह ममत्व मोहसे ही उत्पन्न है, असलमें इसमें सार नहीं है।

इससे पिछले जन्मोंमें भी हम कहीं थे। वहाँ भी हमारा घरबार था, बाल-बच्चे थे, सम्बन्धी थे। परंतु आज उनकी हमें न तो याद है, न उनके लिये कभी मनमें यह चिन्ता ही होती है कि वे किस दशामें हैं। यह भी मनमें नहीं आता कि उनका कहीं पता तो लगावें, वे कौन थे। हम उन्हें बिलकुल भूल गये। हमारा नाता उनसे सर्वथा टूट गया। यही दशा मरनेपर यहाँ होगी। यहाँका सम्बन्ध बस, शरीरको लेकर ही है। इसलिये शोक नहीं करना चाहिये।

ऐसी घटनाओंको देखकर तो संसारकी क्षणभङ्गुरताका खयाल करके वैराग्य होना चाहिये। यही दशा सबकी होगी। यहाँ एक भगवान्‌को छोड़कर सब चीजें अनित्य हैं। जो वस्तु अनित्य होती है, वह दुःख देनेवाली होती है। आज एक चीजको हम अपनी समझते हैं, उसके बिना हमारा काम नहीं चलता, परंतु एक

दिन उससे हमारा सम्बन्ध छूटेगा ही। या तो हम पहले उसको छोड़कर चले जायँगे या वही हमसे बिछुड़ जायगी। जिस चीजको पाने और रहनेमें सुख होता है, उसके जाने और बिछुड़नेमें दुःख होता ही है। यहाँ कोई भी चीज ऐसी है ही नहीं, जो सदा रहे, साथ आवे और साथ जाय। इसलिये भी शोक नहीं करना चाहिये।

यहाँ जो कुछ भी है, भगवान्‌की लीला है। लीलामें अच्छी-बुरी सभी बातें होती हैं। भगवान् मङ्गलमय हैं, उनकी लीला भी मङ्गलमयी है। पता नहीं जिनके बिछुड़ जानेसे आज हमें बड़ा भारी संताप हो रहा है, वे भगवान्‌के विधानसे किसी अच्छी गतिको प्राप्त हुए हों और वहाँ वे बहुत ही सुखसे हों। मनुष्यको भगवान्‌के विधानमें सन्तोष करना चाहिये।

आप समझदार हैं, भजन करती हैं। ऐसे ही समयमें धीरज रखना आवश्यक है। भजनका फल होता है शोकका नाश। आपको स्वयं तो शोक करना ही नहीं चाहिये, सच्ची सहानुभूति, प्रेम तथा विवेकके साथ बहिनजीको भी धीरज बँधानी चाहिये और चेष्टा करके उन्हें भगवान्‌की ओर लगाना चाहिये, जिससे उनका दुःख कम हो तथा उन्हें शान्ति मिले। दुःखकी स्थितिमें विचार, विवेक और धीरजसे काम लेना चाहिये। श्रीभगवान्‌के विधानपर संतोष करना चाहिये। जो चीज गयी, वह तो मिलेगी नहीं। जो है, उसे सँभालना है, उसकी सेवा करनी है। यदि आपलोग दुःख ही करती रहेंगी तो उनकी सँभाल और सेवा कैसे होगी? इसलिये विचारपूर्वक धीरज रखना चाहिये तथा बहिनजीको श्रीभगवान्‌के भजनमें लगाना चाहिये। श्रीभगवान् ही

सबके एकमात्र स्वामी हैं। मीरादेवीने उन्हींको पतिरूपमें वरण किया था। जिनके पति नहीं हैं, उन देवियोंके तो भगवान् ही पति हैं, जो पतिके भी पति हैं, सारे ब्रह्माण्डके पति हैं। उन्हींको अपना चित्त अर्पण करके दिन-रात उन्हींके भजनमें लगना चाहिये; तभी शान्ति मिल सकेगी।

आप बहुत अच्छे स्वभावकी तथा समझदार हैं, इसीसे आपको इतना लिखा है; भगवान्‌को न भूलियेगा—यही अनुरोध है। शेष भगवत्कृपा।

——::×::——

मन आत्माका सेवक है

प्रिय भाई, सप्रेम हरिस्मरण। मन-इन्द्रियोंके विषयोंकी ओर न जानेमें ही आश्चर्य है, जानेमें कोई आश्चर्य नहीं। न मालूम कितने जन्मोंका विषय-चिन्तन और विषय-सेवनका अभ्यास है। इससे घबराना नहीं चाहिये और बड़े बलके साथ साहसपूर्वक मनको विषयोंकी ओर जानेसे रोकना चाहिये। याद रखना चाहिये—मन आत्माका सेवक है, स्वामी नहीं, आत्माके बलसे ही बलवान् है, स्वयं उसमें कोई बल नहीं। आत्माकी अनुमतिसे ही वह कुछ कर सकता है, अन्यथा कुछ भी नहीं। यदि आत्मा बलपूर्वक उसे रोक दे और कह दे—'तुम्हें मेरे कथनानुसार चलना होगा' तो मनकी ताकत नहीं कि वह कुछ भी कर सके। अतएव मन-इन्द्रियोंको बलपूर्वक काबूमें रखनेका प्रयत्न करना चाहिये—यह एक उपाय है।

दूसरा उपाय है—भगवान्के शरण होकर भगवत्कृपाके बलसे मनको भगवान्में लगाना और विषयोंसे हटाना। यह निश्चय समझना चाहिये कि भगवत्कृपासे सब कुछ हो सकता है। जिसको मनुष्य सर्वथा असम्भव समझता है, भगवत्कृपासे आश्चर्यमयरूपसे वही सम्भव हो जाता है।

श्रीभगवान्के शरणकी भावना मनमें बढ़ाते हुए निरन्तर नाम-जप करनेकी चेष्टा रखो—सारे संशयोंके परदे फट जायेंगे; सब अशान्तियाँ शान्त हो जायेंगी एवं सब ओर सुख-ही-सुख दिखायी देगा। विश्वास करो और लग जाओ। यह अचूक दवा है—रामबाण है। फल तो सेवन करनेसे ही होगा।

'हरिसे लागे रहु रे भाई, तेरी बिगड़ी बनत बनत बनि जाई।'

——::×::——

प्रत्येक स्थितिको सिर चढ़ाओ

प्रिय भाई, सप्रेम हरिस्मरण। तुम्हारा पत्र मिला। तुम्हारे प्रेमका मैं सदा ही ऋणी हूँ।

तुम्हारी आर्थिक स्थितिके समाचारोंसे खेद होता है। भैया ! भगवान्‌के विधानको आनन्दके साथ सिर झुकाकर ग्रहण करनेमें ही शान्ति है। अवश्य ही पुरुषार्थके बलसे अपनी बुरी स्थितिके साथ लड़कर उसे बदल डालना बहादुरी है। परंतु यह बहादुरी भी किसी संयोगसे ही मिलती है—मनुष्य तो भ्रमवश बहादुरीका अभिमान कर बैठता है। परंतु यह सफलता भी तो विनाशी ही है। कौन-से करोड़पति-अरबपति धनको अपने साथ ले गये ? वही कफन, वही काठ और साढ़े तीन हाथ जमीन सभीके शरीरोंको मिली। साथ गये अपने कर्मोंके अच्छे-बुरे संस्कार। भैया ! सच्चा धनी वह है, जो सदाचारका, सद्भावोंका, सद्विचारोंका, सद्गुणोंका और भगवान्‌के भजनका धनी है, बाकी तो सब निर्धन ही हैं। निर्धन ही नहीं, घरमें आग लगाकर तमाशा देखनेवाले हैं, मनुष्य-देहको व्यर्थ खोनेवाले हैं; जिनको आगे चलकर महान् पश्चात्ताप करना पड़ेगा।

इसलिये मेरा तो यह अनुरोध है कि मानके बोझको उतारकर सादगीसे रहो, यथासाध्य ऋण उतारनेकी चेष्टा करो, परंतु ऐसा काम न करो जिससे ऋण और भी बढ़ सकता है। भगवान् चाहेंगे तो कोई संयोग ऐसा लग जायेगा, जिससे ऋण उतरना भी सम्भव हो जायगा। अपनेको उनकी इच्छापर छोड़ दो और उनका

आश्रय लेकर उनके भजनमें लग जाओ। ज्यों-ज्यों भजन बढ़ेगा त्यों-त्यों तुम्हें शान्ति मिलेगी। भजनसे वह शान्ति और वह परम आनन्द मिलता है, जो बड़े-से-बड़े योगियोंकी कल्पनामें भी नहीं आ सकता। तुम इस बातपर विश्वास करो।

जग जाचिअ कोउ न, जाचिअ जौं, जियँ जाचिअ जानकी-जानहि रे।
जेहि जाचत जाचकता जरि जाइ, जो जारति जोर जहानहि रे॥

(कवितावली, उत्तरकाण्ड—२८)

भगवान्‌पर विश्वास रखो, उनकी दी हुई प्रत्येक स्थितिको सिर चढ़ाओ, उनके बनो। फिर जब योगक्षेमकी जिम्मेवारी वे ले लेंगे, तब फिर तुम्हारे समान कोई सुखी नहीं होगा। शेष भगवत्कृपा।

——::×::——

उसकी छत्रछायामें रहें

सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। दुर्घटनाके बाद अस्पतालमें कभी आपके हृदयमें शोक-विषाद अथवा पश्चात्तापका भाव नहीं आया, यह भगवान्‌की आपपर महान् कृपाका परिचायक है। आपका यह क्षत्रियोचित स्वभाव सर्वथा सराहनीय है। दुर्घटनाके समय भगवच्चरणोंका विस्मरण हो गया, यह अवश्य ही विचारणीय बात है। मनुष्यकी मृत्यु कब हो जाय, इस बातको वह नहीं जानता। अभी बिहटामें हृदयद्रावक ट्रेन-दुर्घटना हो गयी। चलते-चलते मनुष्य-हृदयकी गति रुक जानेसे मर जाता है, बीमार रहकर जो मरता है, उसकी भी अन्तकालमें वृत्ति भगवान्‌में लगायी लग सकेगी, इसका भी कुछ निश्चय नहीं है। अभी यहाँ एक पुलिस इन्सपेक्टरका अस्पतालमें देहान्त हुआ है, वे सन्निपातमें पुलिस-स्वभावकी चर्चा ही कर रहे थे। इसलिये यह बहुत ही आवश्यक बात है कि हम अपने चित्तको ऐसा भगवत्परायण बना दें, ऐसा भगवच्चिन्तनमय बना दें कि किसी भी अवस्थामें वह चिन्तन न छूटे; वह सर्वथा स्वभावगत हो जाय, जिससे हम सदा ही उसकी छत्रछायामें रह सकें। इसीलिये भगवान्‌ने कहा—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥
तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

(गीता ८। ६-७)

'जिस-जिस भावको स्मरण करता हुआ मनुष्य शरीर छोड़ता है, वह उसीको प्राप्त होता है और अन्तकालमें प्रायः उसीमें चित्त रहता है, जिसका अभ्यास सदा (जीवनभर) किया गया है। इसलिये तुम सब समय निरन्तर मेरा स्मरण करते हुए ही युद्ध करो। फिर चाहे जब मृत्यु हो, मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाले तुम निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होओगे।'

भगवान्के इन वचनोंपर खूब ध्यान देकर हमें श्रीभगवान्का स्मरण करते हुए ही सब काम करनेका अभ्यास डालना चाहिये। पहले स्मरण, पीछे काम; स्मरण सब समय, काम यथायोग्य नियत समयपर। ऐसा करनेसे फिर हम जब सदा ही भगवत्स्मरण करते रहेंगे, तब चाहे किसी भी दुर्घटनासे मौत हो—हमारा मन भगवान्में रहनेसे हमें भगवान् ही मिलेंगे।

यह बात केवल कहने-सुननेकी नहीं है, बहुत ही आवश्यक समझकर करनेकी है। आपके जीवनकी यह दुर्घटना तो आपके लिये एक खास उद्देश्य हो जाना चाहिये। इस बार तो भगवान्ने बचा दिया—यह समझकर कि इस अवस्थामें चला जायेगा तो मुझको नहीं पावेगा; बचाकर मानो यह कहा—'खबरदार! अब न भूलना। अब तो प्रतिक्षण मनकी प्रत्येक वृत्तिसे मेरा ही चिन्तन करना। फिर तेरे योगक्षेमका वहन मैं स्वयं करूँगा।'

****

वह मनुष्य बड़ा ही सौभाग्यशाली है, जिसके योगक्षेमके निर्वाचनका और वहनका जिम्मा भगवान्‌ने ले लिया है और जो सारी जिम्मेदारीसे छूटकर पागलकी तरह चौबीसों घंटे केवल अपने प्रियतमको ही पुकारा करता है।

आपने आरम्भसे लेकर अन्ततक अपने पत्रमें जहाँ-तहाँ मेरी बड़ी बड़ाई की है, यह ठीक नहीं। मैं तो आपका 'भाईजी' हूँ। सारी कृपा तो उस हमारे-आपके प्यारे भगवान्‌की है। केवल जिसके प्यारको देखकर ही हम उसे अपना प्यारा कहते हैं, हमारे प्यारसे नहीं, उसीके कृतज्ञ बनिये और कृतज्ञ हृदयसे पल-पलमें और पद-पदपर प्रत्येक स्थितिमें उसकी महान् कृपाका अनुभव करते हुए श्रद्धा-प्रेमके साथ निष्काम हृदयसे उसीका मधुर स्मरण कीजिये। आप धन्य होंगे और आपका 'भाईजी' होनेके कारण मैं भी धन्य हो जाऊँगा। शेष भगवत्कृपा।

——::×::——

श्रीकृष्ण कृपा करके मेरे दिलको मारकर मुझे बेदिल कर दें

प्रिय बहिन, सस्नेह जय श्रीकृष्ण। आपका अनुरागपूर्ण पत्र और 'गोपी' पुस्तिकाकी तीनों नकलें मिल गयी थीं ! 'गोपी' की एक प्रति आपने मुझे भाईके नाते सप्रेम भेंटरूपमें भेजकर भाई-बहिनके पवित्र सम्बन्धको और भी मजबूत कर लिया। आपकी यह आदर्श-भेंट सिरमाथेपर स्वीकार है। बाकीकी दोनों नकलोंको दो मित्र ले गये। एक त्यागी मित्रको तो उसे पढ़कर बेहद आनन्द मिला। आपके पत्रमें सच्चे अनुराग और भक्तोचित दैन्यको देखकर चित्तमें अत्यन्त आनन्द हुआ। वस्तुतः सच्चा भक्त 'जड-यन्त्र' ही होता है। वह जडकी तरह सर्वथा और सर्वदा यन्त्रीके इशारेपर ही घूमता है; कभी कुछ भी नहीं बोलता। ऐसे अहंकारशून्य भक्त ही यन्त्रीके हाथमें कठपुतलीकी तरह नाचा करते हैं। उन्हें किसी चीजका भान नहीं होता। प्राणनाथ यन्त्रीमें उसका इतना समर्पण होता है कि वह इस बातको पहचानने और जाननेकी आवश्यकता नहीं समझता कि प्राणनाथ मुझसे अलग हैं। वह प्राणनाथको और अपनेको दोनोंको ही भूल जाता है—

कान्ह भये प्रानमय, प्रान भये कान्हमय,
हियमें न जानि परे कान्ह हैं कि प्रान हैं।

प्रेमी कभी ऐसा नहीं मानता कि 'मैं प्रेमास्पदको— प्राणनाथ भगवान्को चाहता हूँ।' वह सदा ही अपनेमें प्रेमकी कमीका अनुभव करता है। वह यही मानता है कि 'मुझमें इतना

प्रेम ही कहाँ, जो मैं उनसे प्रेम कर सकूँ; इसीलिये उसका प्रेम परम उज्ज्वल और प्रतिक्षण बढ़ता रहता है। प्रेमको सदा बढ़नेवाला ही माना गया है— **'प्रतिक्षणवर्धमानम्।'** जो प्रेम घटता है, जिस प्रेमका प्रवाह रुकता है, जिसके लिये यह माना जाता है कि पूरा प्रेम हो गया, वह तो प्रेम ही नहीं है। उनका जादू ऐसा ही है, जो सब कुछ लुटाकर भी यह अनुभव करता है कि मैंने अबतक कुछ भी नहीं दिया। और बात भी ऐसी ही है—उन्हें पाकर, उनके प्रेमको पाकर भक्त इतना धनी बन जाता है कि उसे अपने सर्वस्वदानकी बात याद ही नहीं रहती। जिस प्रेममें—प्रेमके लिये किये हुए त्यागकी स्मृति है, वह प्रेम यथार्थ नहीं है। प्रेममें तो त्यागका भी त्याग हो जाता है। जब मन ही अपना नहीं रहता, तब मनमें त्यागकी याद किसको रहे। उस गलीमें तो दिल और दिलवाला दोनों ही खो जाते हैं—

तेरी गलीमें आकर खो गये हैं दोनों,
दिल मुझको ढूँढ़ता है, मैं दिलको ढूँढ़ता हूँ।

सचमुच भक्त अपने प्राणनाथके हाथ बिके हुए दिलसे हारा हुआ रहता है, धन्य है।

मैं तो भक्त नहीं हूँ, भक्तोंके कदमोंकी धूलका भिखारी हूँ। भक्तोंके लिये मैं क्या प्रार्थना करूँ! और प्रियतमके लिये मरे हुए दिलको जिलानेकी प्रार्थना भी क्यों करनी चाहिये? यह मरना ही तो असली जीना है। श्रीकृष्ण कृपा करके मेरे दिलको मारकर मुझे बेदिल कर दें और अपना दिल मुझे दे दें—आप ऐसी भावना इस भाईके लिये करें।

यह बात बिलकुल सच है कि आत्म-समर्पण किये बिना कृष्णको कोई नहीं जान सकता और जो कृष्णको जान लेता है, वह सभी नाम-रूपोंमें अपने कृष्णको ही देख सकता है; क्योंकि वही असलमें है। मुसलमानोंका अल्लाह और ईसाइयोंका गॉड इस कृष्णसे जुदा नहीं है। कृष्णमें कोई जात-पाँत नहीं और उसके प्रेममें भी जात-पाँतकी कोई पूछ नहीं! एक कृष्ण-भक्तने कहा है—

नहिं हिन्दू नहिं तुरक हम, नहिं जैनो अँगरेज।
सुमन सँवारत रहत नित कुञ्जबिहारी सेज॥

जो गीता, कुरान और बाइबलमें उस एक ही परमात्माको देखता है, वही यथार्थ देखता है। यह तो नासमझी है कि जो दो नामोंसे एक ही अल्लाहको पूजनेवाले आपसमें लड़कर—एक दूसरेके भगवान्‌को गालियाँ देकर—अपने ही भगवान्‌को गालियाँ देते हैं। भगवान् कृपा करके ऐसे भाइयोंकी आँखें खोलें।

श्रीकृष्ण अपना और विशुद्ध प्रेम प्रदान करें, यही प्रार्थना है।

——::×::——

सुखी बननेकी कुछ महत्त्वपूर्ण बातें

सम्मान्य श्री……, सादर प्रणाम। मनुष्यके मनमें जिस तरहका चिन्तन चलता रहता है, वह सदा उन्हीं बातोंसे घिरा रहता है और अन्तमें उन्हींको प्राप्त होता है। अतएव अशुभ-चिन्तन मनुष्यको कभी नहीं करना चाहिये; इसीमें अपना लाभ है। अशुभ-चिन्तन करना अपनी आत्मशक्तिका दुरुपयोग करना है और भय तथा विपत्तियोंको पुकार-पुकारकर बुलाना है। अपने मनमें किसीके प्रति जरा-सा भी द्वेष या हिंसाका भाव नहीं होना चाहिये, इसमें अपना ही लाभ है, किसीपर अहसान नहीं है। जो शत्रुको भी प्यारकी नजरसे देखता है, जिसके हृदयमें शत्रुके लिये भी शुभ-चिन्तनकी सम्पत्ति है, वह भगवान्‌को बड़ा प्यारा है और वही आनन्दमें है। उसके हृदयमें जलन नहीं होती—सदा शान्ति विराजती है। वास्तवमें अपना कोई शत्रु है ही नहीं; हमारी कल्पना ही हमारे लिये शत्रु पैदा कर लेती है। हमें जो दुःख मिलते हैं, वे तो अपने पहले किये हुए कर्मोंके फलस्वरूप मिलते हैं; किसीके द्वारा मिलता है तो यह परेच्छा-प्रारब्धमात्र है; वह तो उसमें निमित्तमात्र बना है, वास्तवमें वह हमें दुःख देनेवाला नहीं है। दुःख देनेवाले हम स्वयं हैं, जो पहले दुःखोंके कारणरूपमें वैसे कर्म कर चुके हैं। ऐसी हालतमें हमारा शत्रु कौन है ? एक बात और—मनुष्यको सदा अपने लाभकी चेष्टा करनी चाहिये, इसीमें बुद्धिमानी है। मनमें द्वेष-भाव रहनेसे

निश्चय ही हानि होती है। द्वेष रखना चाहिये अपने बुरे विचारोंसे, बुरी भावनाओंसे, बुरे कार्यों और आचरणोंसे। यदि हम इनका नाश कर सकें तो हमारा जीवन शान्ति और सुखकी खान बन जायगा।

जो दूसरेके दोष नहीं देखता—नहीं देख पाता—दोष देखनेकी आँखें जिनकी फूट गयी हैं, वही सत्पुरुष है और वही सुखी भी है। जिसमें अपमानका बोध नहीं होता, जिसमें निन्दाका भय नहीं रहता, जो दोष ग्रहण नहीं करता, वह सत्पुरुष ही महान् है। अतएव सत्यकी रक्षाके लिये अपने दोष स्वीकार कर लेने चाहिये, उसमें निन्दा-अपमानसे नहीं डरना चाहिये। दोषोंको हृदयसे निकाल देना चाहिये—अपने दोष ढूँढ़-ढूँढ़कर और प्रकट कर-कर तथा दूसरोंके दोषोंके लिये हृदयके द्वार सदा बन्द रखकर।

दो बातें भूल जानी चाहिये—अपना किया हुआ उपकार और दूसरोंके द्वारा किया हुआ अपना अपकार। दो बातें याद रखनी चाहिये—दूसरेके द्वारा किया हुआ अपना उपकार और अपने द्वारा किया हुआ दूसरेका अपकार। इसीमें भलाई है····(उन्होंने) किसी समय किसी अंशमें आपका कुछ उपकार किया था, उसे याद रखना चाहिये और उसके लिये आपको उनका कृतज्ञ रहना चाहिये। अब यदि वे अपकार करते हैं तो इसे भूल जाना चाहिये और इसके बदलेमें उनसे प्रेम करना चाहिये हृदयसे। आप निश्चय मानिये—यदि हमारे प्रारब्ध वैसे नहीं हैं तो किसीके भी करनेसे हमारी बुराई नहीं हो सकती। सबसे प्रेम रहे, संसारमें सभीसे मेल-जोल रहे; यह तो नदी-नाव संयोग है—

'तुलसी' या संसारमें, भाँति-भाँतिके लोग।
सबसौं हिल मिल चालिये, नदी नाव संयोग॥
बुरा जो देखन मैं गया, बुरा न मिलिया कोय।
जो मन देखा आपना, मुझ-सा बुरा न कोय॥
तेरे भावें जो करौ, भलो बुरो संसार।
'नारायन' तूँ बैठकें, अपनो भवन बुहार॥
जो तोको काँटो बुवै, ताहि बोय तू फूल।
फूल सदा ही फूल है, दोउन कै अनुकूल॥
सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥
सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

इन बातोंपर विचार कीजिये और सुखी होनेका प्रयत्न कीजिये। शेष भगवत्कृपा।

——::×::——

मनुष्य-जीवनका प्रयोजन—भगवान् या भगवत्प्रेमकी उपलब्धि

प्रिय····सप्रेम हरिस्मरण। आपका प्रेमभरा पत्र मिला। मेरे लिये तो आपने जो कुछ लिखा, सो प्रेमसे प्रेरित होकर ही लिखा है, सचमुच मनुष्य जो अपने जीवनको भगवान्से विमुख रहकर बिता देता है, यह बड़ी भारी भूल करता है। जीवन बीत जानेपर पश्चात्ताप होता है, हाय ! जीवनमें मिला हुआ सुअवसर बड़ी बुरी तरहसे खो दिया !! वास्तवमें मनुष्य-जीवनका एकान्त प्रयोजन होना चाहिये—भगवान् या भगवत्प्रेमकी उपलब्धि। गङ्गाकी धारा जैसे निरन्तर अनवरत रूपसे समुद्रकी ओर जाती है—सारे बाधा-विघ्नोंको हटाती हुई एक लक्ष्यसे, वैसे ही हमारी चित्तवृत्तियाँ, हमारी चेष्टाएँ, हमारी चिन्ताएँ, हमारी क्रियाएँ, हमारे अनुभव—सब जाने चाहिये केवल भगवान्की ओर।

यह सत्य है, भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके लिये अन्य सब प्रेमोंका त्याग कर देना पड़ेगा, सब कुछ उस प्रेमकी आगमें जला डालनेके लिये हँसते-हँसते तैयार हो जाना पड़ेगा और मौका पाते ही बिना चूके इस सब कुछको वैसे ही जला डालना चाहिये, जैसे बिना विलम्ब तत्परतासे हम मुर्देको फूँक देते हैं। मुर्दा फूँककर आत्मीयताके सम्बन्धसे हम रोते हैं ? परंतु भगवत्प्रेमकी आगमें जब विषयोंका मुर्दा फूँका जाता है, तब तो रोने—विषाद और शोकसे रोनेके मूल कारण ही नष्ट हो जाते हैं। फिर कभी रोना भी होता है तो वह बड़े ही आनन्दका कारण होता है; क्योंकि उसकी

उत्पत्ति आनन्दसे ही होती है। इसलिये केवल भगवान्का ही चिन्तन कीजिये। भगवान्से प्रार्थना कीजिये, हमारा तमाम जीवन—जीवनकी क्षुद्रसे क्षुद्र चेष्टा—भगवान्के लिये ही हो। पूर्ण हृदयसे हम भगवान्को ही भजें। दूसरेके लिये न मनमें स्थान हो और न दूसरोंकी सेवामें कभी तन लगे। तन-मन-धन—जो कुछ है, उन्हींका तो है; उनकी वस्तु उन्हींके अर्पण हो जाय। जो वस्तु उनको अर्पण हो जाती है, वही बचती है; वह हो जाती है अनमोल और वह हमें विपत्तिके अथाह समुद्रसे तार देती है।

प्रेममें खोना और अलग होना नहीं होता; खोने और अलग होनेमें भी पाना ही होता है—यही तो प्रेमका रहस्य होता है।

मेरा स्वास्थ्य अच्छा है, चिन्ता न करें। असली स्वास्थ्य तो भगवान्में स्थित हो जानेका नाम है। वह नहीं हो रहा है, इसीके लिये रोना और भटकना है। शेष भगवत्कृपा।

——::×::——

जगत् दुःखकी खान है

प्रिय भाई, सप्रेम हरिस्मरण। भैया ! भगवान्‌को छोड़कर यह जगत् दुःखकी खान है। भगवान्‌ने इसे 'दुःखयोनि' बतलाया है। दुःखोंसे छूटनेका एक ही उपाय है—बस, यही कि अपनेको भगवान्‌के प्रति सब प्रकारसे समर्पण कर देना। तभी सच्चा सुख, अपार शाश्वती शान्ति मिल सकेगी। संसारकी नजरमें परिस्थिति पलटनेसे दुःख नहीं मिटेगा, दुःखोंके हेतुमात्र बदल जायेंगे। दुःखालयमें दुःख तो रहेगा ही। भगवान्‌की इस नाट्यशालामें चतुर एक्टरकी भाँति खेलते रहो। भगवान् जैसा कुछ स्वाँग दें, जो कुछ प्रदान करें, उसीको सानन्द सिर चढ़ाओ। इस पार्थिव जीवनमें भगवान्‌को छोड़कर कुछ भी नित्य और आनन्द नहीं है। भगवान्‌से ही आनन्दका झरना बहता है, उसमें नहाओ, कृतार्थ हो जाओगे। ये भावुकताके शब्द नहीं हैं, सत्य तथ्य है।

अभी दस-पाँच दिन तो यहीं ठहरनेका विचार करता हूँ, परंतु यहाँ रहना नहीं है; मन किसी औरको ही खोजता है, वह व्यस्त है, देखें लीलामय क्या करते हैं ?

तुम्हारे शरीर और मन स्वस्थ होंगे। भगवान्‌का स्मरण किसी भी बुद्धिसे अवश्य करते रहना। शेष भगवत्कृपा।

——::×::——

प्रभो ! तेरी मङ्गल-इच्छा सफल हो

प्रिय……, सप्रेम राम राम !

आपके कई पत्र मिले, तार मिले, परन्तु मैं नहीं आ सका; इससे यह न समझियेगा कि मेरा आपसे प्रेम कम है। यद्यपि मैं परम प्रेमी होनेका दावा भी नहीं करता; किन्तु बहुत बार ऐसा भी होता है कि प्रेमी समीप नहीं आ सकता, आना नहीं चाहता; उसे दूर रहनेमें ही प्रेमका विकास प्रतीत होता है। अधिक मैं कुछ भी नहीं लिख सकता। यदि आप इस बातपर कुछ भी विश्वास रखते हों कि 'मैं अपने मनमें आपके प्रति जरा-सा भी प्रेम रखता हूँ, तो आप मुझे अपने पास ही समझिये।' शरीरकी अपेक्षा मनसे मैं आपके पास अधिक हूँ, जो शायद शरीरसे पास रहनेपर नहीं रह सकता।

दवासे आपकी तबियतमें कुछ सुधार लिखा, सो बड़े आनन्दकी बात है। शारीरिक व्याधि मिटना आनन्द ही है; परंतु मेरी समझसे आपको परमात्मापर भरोसा करके निश्चिन्त रहना चाहिये।

'जीवन-मरण चरणके चाकर, चित्त भावना हीन।
हरि-चरणाश्रित निर्भय-निर्भर, प्रेमोदधिमें लीन ॥'

जो अपनेको प्रभुके चरणोंमें समर्पित कर देता है, उसमें प्रधानतया दो बातें आ जाती हैं—निर्भयता और निश्चिन्तता। मृत्युकी विभीषिका भी उसे नहीं डरा सकती और स्वर्ग, नरक, सुगति,

दुर्गति या मोक्षकी चिन्ता उसे नहीं रहती। **'योगक्षेमं वहाम्यहम्'**—भगवान्‌की इस अमर घोषणाको वह निरन्तर सुना करता है और पद-पदपर इसका प्रमाण भी पाता है। ईश्वरकी सत्तासे बाहर कोई कहीं नहीं जा सकता। उसकी सत्तासे बाहर कोई देश ही नहीं है; तब फिर किसी भी देशमें और किसी भी वेषमें क्यों न रहें, चिन्ताकी कौन-सी बात है ? वह प्रभु जिस वेषमें हमें रखना चाहें, उसीमें प्रसन्नतासे रहना ही हमारा कर्तव्य है। उसकी इच्छाके विरुद्ध हम किसी वेषविशेषके लिये आग्रह ही क्यों करें ? ऐसा आग्रह करना तो उस मङ्गलमयकी मङ्गल-इच्छापर अपनी समझका बाँध बाँधने जाना है, उस परम प्रेमीके प्रेम-विधानपर संदेह करना है। हम जो उसके नित्य सहचर हैं; उसीके दिये हुए किसी खास देश-वेषको थोड़े दिनोंके लिये पाकर उसीमें तन्मय होकर हम असली बातको भूल रहे हैं; यह हमारा दुर्भाग्य है। यह देश-वेष तो उसके किसी कार्यके लिये हमें मिला है; यह बपौती थोड़े ही है, नित्य थोड़े ही है। उसने जिस कार्यके लिये हमें निमित्त बनाया है, उसके पूरा होते ही वह अपने दूसरे कामके लिये किसी दूसरे देश-वेषमें हमको बदल सकता है। इसमें शोकका प्रसङ्ग ही क्या है ? जब हम उसके हैं, तब वह जो कुछ करे, उसीमें हमारा मङ्गल है। यह शरीर तो हमारा रूप नहीं है, यह तो उसका दिया हुआ वेष है। यह नहीं—दूसरा सही। इसीमें ममत्व क्यों ? इसीके कल्पित सम्बन्धियोंमें अपनापन कैसा ? उचित तो यही है कि अपनी इस भूलको मिटाकर हम उसीको आत्मसमर्पण कर दें; अपनेको सम्पूर्ण रूपसे उसके चरणोंमें डाल दें। फिर वह जो कुछ करे सो अच्छा है। लम्बी बीमारी प्रदान करके तो उसने

****

मानो अपना प्रियदूत हमारे पास भेज दिया है कि तुम्हारा यहाँका काम हो चुका, अब तुम्हें जल्दी बुला लिया जायगा। प्रभुका—प्रियतमका दूत तो हमारी प्रिय सामग्री है; उसका हमें स्वागत करना चाहिये—'अहा! इसने बड़ी कृपा की जो प्रियतमका सन्देशा सुनाया। प्रियतमने याद किया तभी तो इतने पहलेसे अपना दूत भेज दिया है। मैं प्रियतमको भूल रहा था; उन्होंने दूत भेजकर प्रेमकी स्मृति ताजी कर दी; अब तो उन्हें कैसे भूलूँ। भाई दूत! समीप रहो और सर्वदा अपनी समीपतासे उस प्यारेकी याद दिलाते रहो। तुमने बड़ी ही कृपा की।'

शरीर तो चाहे जब जा सकता है। हट्टे-कट्टे आदमी हृदयगति रुक जाने (हार्ट फेल) से मर जाते हैं; वे बेचारे एक प्रकारसे इस दूतके सन्देश-सुखसे वञ्चित रह जाते हैं। मान लीजिये—कोई आदमी बिना ही बीमारीके पलभरमें चल बसा और चलते समय भगवान्‌को स्मरण भी नहीं कर सका तो उसकी क्या गति होगी। पर जिसको भगवान् पहलेसे चिता देते हैं, वह तो भाग्यशाली है।

वह प्रभु बड़ा दयालु है; उसका कोई भी कार्य दयासे रहित और अन्यायपूर्ण नहीं होगा; हमें अपनी बुद्धिके दोषसे वह प्रतिकूल या कठोर भासता है। आपको चाहिये कि आप अपने-आपको उसके चरण-कमलोंमें सर्वभावेन समर्पण कर दें। वास्तवमें आप उसके हैं ही। किसी प्रकारकी चिन्ता न करें। मङ्गलमयकी मङ्गल-इच्छामें सहायक बन जायँ। उसके साथ मिलकर उसकी जय मनावें—'प्रभो! तेरी मङ्गल-इच्छा सफल हो! यह मन कदापि तेरी मङ्गल-इच्छामें प्रतिकूलता न देखे। सर्वथा-सर्वदा और सर्वत्र उसके अनुकूल ही रहे।' शेष भगवत्कृपा।

——::×::——